॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
९७

हिन्दी-ध्वन्यालोक

सटिप्पण 'लोचन' व्याख्यासहित

(प्रथम उद्द्योत)

व्याख्याकारः--
आचार्य जगन्नाथ पाठक

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित 'लोचन' सहितः

सटिप्पण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतश्च

(प्रथम उद्द्योतः)

हिन्दीव्याख्याकार

आचार्य जगन्नाथ पाठक

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२० वि०
मूल्य : ४-००

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
97

THE

DHVANYĀLOKA

OF

S'ri Ānandavardhanāchārya

WITH

THE LOCHANA SANSKRIT COMMENTARY

OF

S'ri Abhinavagupta

and

THE PRAKĀS'A HINDI TRANSLATION OF BOTH THE TEXTS

and

EXHAUSTIVE NOTES

BY

ĀCHĀRYA JAGANNĀTH PĀTHAK

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Post Box No. 69. Varanasi-1 (India) Phone : 3076
1963

प्रावेशिकी

ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यशास्त्रनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥

राजशेखर

'ध्वन्यालोक' और उस पर 'लोचन' प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्र के दो प्रमाणभूत आचार्यों की महती सूक्ष्मेक्षिका से सुविरचित महनीय कृतियाँ हैं। इनकी सबसे अधिक आकलनीयता इस अंश में है कि इन्होंने साहित्य के परम्परागत शास्त्रीय चिन्तन-क्रम में स्थूल वस्तुगत या बाह्य शरीरगत सौन्दर्य के प्राधान्य का निराकरण करके सूक्ष्म आत्मगत सौन्दर्य के महत्त्व की स्थापना की, जो स्थूलवादी लौकायतिकों के शरीर-पक्ष पर सूक्ष्मवादी वैदान्तिक दार्शनिकों के प्रबल आक्रमण का व्यक्त रूप से प्रथम साहित्यिक प्रवर्तन था। इस दृष्टि से ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन और लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्तपाद का स्थान भारतीय साहित्य-शास्त्र में सबसे ऊँचा है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् साहित्य शास्त्र की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना 'ध्वन्यालोक' है जिसका प्रभाव व्यापक रूप से परवर्ती विचारों पर पड़ा। एक ओर जब कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र ने काव्य के दृश्य पक्ष के मार्ग का आलोकन विशेष रूप से किया तो दूसरी ओर शताब्दियों के बाद श्रव्य पक्ष का तात्त्विक आलोकन ध्वन्यालोक द्वारा हुआ। ध्वन्यालोक ने संस्कृत साहित्य में एक नये युग का प्रवर्तन किया।

आनन्दवर्धन का समय ८५५–८८३ ई० है, क्योंकि इसी समय के काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के ये सभापण्डित थे, जैसा कि कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' के इस श्लोक से व्यक्त है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

और लोचनकार अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी का उत्तरार्ध है। आचार्य अभिनव ने नाट्यशास्त्र पर अभिनव भारती टीका भी लिखी।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' (ईसा की द्वितीय शताब्दी) में प्रसङ्गतः रस और अलङ्कारों की चर्चा है। भामह और दण्डी आदि आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य के सौन्दर्य का हेतु स्वीकार कर काव्य में अलङ्कार के प्राधान्य की प्रतिष्ठा की और रस को भी एक प्रकार का अलङ्कार ही माना। अलङ्कारवादियों के यहाँ वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति ही काव्य-चमत्कार का मूल मानी गई।

ध्वनिवाद ने काव्य के मूल आभ्यन्तर तत्त्व रस तथा वाह्य अलङ्कार एवं वस्तु के आश्रयण से अतिशयित शब्द-अर्थ की सीमा को पार करके वड़ी समग्रता से काव्य-क्षेत्र को व्याप्त किया। इस सिद्धान्त का स्फुरण, आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के तत्त्वज्ञ विद्वानों के अन्तःकरण में पहले से हो चुका था और इसका मूल संकेत वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त में मिला। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिन्तन का चरम विकास ध्वनि-सिद्धान्त के उन्मीलन में ही हुआ। स्फोट तत्त्व से प्रेरणा ग्रहण करके 'ध्वनि' के अर्थ में विस्तार एवं वहुत कुछ नवीकरण का प्रयत्न हुआ। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठित होते ही रस तत्त्व को सर्वाधिक वल मिला, यही नहीं वह काव्य का परम उत्कृष्ट आत्मभूत तत्त्व भी निश्चित हुआ।

ध्वन्यालोक के अध्येताओं के समक्ष उसके कारिका भाग और वृत्ति भाग के कर्तृत्व को लेकर किसी एक निर्णय पर पहुंचने का प्रश्न अत्यन्त जटिल रूप में उपस्थित है, क्योंकि विद्वानों में कुछ कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता को अभिन्न मानते हैं और कुछ लोग भिन्न मानने के पक्षपाती हैं। दोनों के पास अपने-अपने तर्क हैं। इस जटिल प्रश्न का मूल आधार है अभिनवगुप्त की लोचन टीका, जिसमें अनेक स्थानों में 'कारिकाकार' और 'वृत्तिकार' का उल्लेख है जिससे दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है। परन्तु जव विचार आगे बढ़ता है कि माना कि निश्चित रूप से आचार्य आनन्दवर्धन वृत्तिकार हैं तो 'कारिकाकार' कौन है? इस प्रश्न पर मूक होने के सिवा और कोई चारा नहीं। ध्वन्यालोक के निर्माण के पश्चात्, जैसा कि 'लोचन' से पता चलता है, दो ग्रन्थ एक ध्वन्यालोक की टीका 'चन्द्रिका' (जो अभिनवगुप्त के सम्भवतः किसी स्वजन की लिखी होगी) और दूसरा भट्ट नायक का ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' लिखे गये, किन्तु सम्प्रति वे प्राप्त नहीं हैं। सम्भवतः उन ग्रन्थों में प्रस्तुत समस्या का हल मिल

सकता था। किन्तु किसी प्रामाणिक तर्क के अभाव में किसी एक निर्णय पर पहुँचना हठ के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

यदि परवर्ती आचार्यों का साक्ष्य अनुसन्धान करते हैं तो प्रायः सभी (कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि) ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार माना है। राजशेखर का ऊपर उद्धृत पद्य भी इसी तात्पर्य का है। फिर भी लोचनकार के द्वारा कारिका और वृत्ति ग्रन्थ के रचयिताओं को स्पष्टतया भिन्न रूप में लिखे जाने को ठीक मानकर जिन विद्वानों ने दोनों को भिन्न माना है उनमें प्रो० डे तथा प्रो० काणे आदि प्रसिद्ध हैं। इन विद्वानों ने प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि कारिकाकार का नाम 'सहृदय' था, जैसा कि मुकुलभट्ट ने 'सहृदय' शब्द का प्रयोग ध्वनिकार के लिये किया है और 'सहृदयमनःप्रीतये' की वृत्ति है 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' आदि।

किन्तु इस भेदवादी मान्यता के विरोध में जैसा कि डा० शङ्करन् का मत है, लोचनकार कारिका ग्रन्थ और वृत्तिग्रन्थ को स्पष्ट करने के लिये दोनों को भिन्न रूप में लिखते हैं। कारिका के साथ वृत्ति लिखने की परिपाटी ही चल पड़ी थी। साथ ही डा० शङ्करन् ने अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' (नाट्यशास्त्र की व्याख्या) के उद्धरणों से दोनों को अभिन्न सिद्ध किया है।

संक्षेप में अधिकतर विद्वानों ने कारिकाकार और वृत्तिकार को अभिन्न माना है, अर्थात् ध्वन्यालोक एक व्यक्ति का लिखित ग्रंथ है, और वह हैं श्री आनन्दवर्धनाचार्य।

जैसा कि आनन्दवर्धन ने निर्देश किया है, इस ग्रंथ के अतिरिक्त उनकी रचनायें हैं—अर्जुनचरित, विषमबाणलीला, देवीशतक तथा तत्त्वालोक आदि। इस प्रकार वे एक समर्थ आचार्य, कवि एवं दार्शनिक थे। देवीशतक के अनुसार उनके पिता का नाम नोण था।

ध्वन्यालोक के 'लोचन' व्याख्यान के कर्ता श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्तपाद अपने समय के उद्भट दार्शनिक थे। इनके पितामह का नाम वाराहगुप्त था और पिता का नाम चुखुल। इनके गुरुओं में भट्ट इन्दुराज, भट्टतौत और लक्षणगुप्त के नाम आते हैं। 'लोचन' में भट्ट इन्दुराज का स्मरण किया गया है और नाट्य-शास्त्र की अभिनवभारती व्याख्या में भट्टतौत का। शैवदर्शन का अध्ययन इन्होंने लक्ष्मणगुप्त से किया था।

साहित्य शास्त्र के उक्त दो व्याख्या ग्रंथों के अतिरिक्त इनके अनेक दार्शनिक ग्रंथ मिलते हैं। कश्मीरी शैवदर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) के प्रतिष्ठापक आचार्यों में अभिनवगुप्त का स्थान प्रमुख है।

'लोचन' व्याख्यान अत्यन्त गम्भीर और मार्मिक है। इस पर टिप्पणी के रूप में मद्रास से उत्तुङ्गोदयराज की 'टिप्पणी' (प्रथम उद्द्योतमात्र) और काशी चौखम्वा सीरीज से श्रीरामषारक महोदय द्वारा रचित 'बालप्रिया' (पूज्यपाद गुरुवर पं० महादेव शास्त्रीजी लिखित 'दिव्याञ्जना' के साथ) प्रकाशित हैं। कहीं-कहीं 'लोचन' परम्परागत लेखक-प्रमाद के कारण अस्त-व्यस्त हो गया है, उन प्रसङ्गों में प्रायः सभी को किसी निर्णय पर पहुंचने के प्रयत्न में भ्रमित हो जाना स्वाभाविक है। विभिन्न प्राचीन पाण्डुलिपियों का अध्ययन करके अलग से 'लोचन' का प्रामाणिक संस्करण तैयार करना एक पृथक् महत्त्व का कार्य है। अस्तु, प्रस्तुत प्रयास ध्वन्यालोक और लोचन का हिन्दी अनुवाद और व्याख्यान रूप है। अनुवाद को मूल की अनुरूपता देने का प्रयास किया गया है, ताकि अध्येता को भी अपने निर्णय के लिये पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त हो। स्पष्टीकरण के लिये व्याख्यान का अंश टिप्पणी रूप में प्रस्तुत किया गया है, यह नहीं कि ग्रंथ की समग्र गम्भीरता को व्याख्याकार जानने या अपनी टिप्पणियों द्वारा प्रस्तुत कर सकने का दावा करता है। फिर भी लोचन के स्वाभाविक रूप से व्यक्त होने वाले विचारों का प्रकाशन करते हुये वह बालप्रियाकार सहृदयतिलक श्रीरामषारक पिषारटि महोदय के प्रति अपनी श्रद्धापूर्वक प्रणति निवेदन करता है।

सम्पूर्ण 'ध्वन्यालोक' और 'लोचन' हिन्दी-व्याख्यान के साथ प्रकाश में आ रहे हैं। प्रथम उद्योत मात्र विद्यार्थियों की सुविधा के लिए अलग से भी मुद्रित किया गया है। इस प्रसङ्ग में अपने सहकर्मी मित्र पं० श्री विश्वनाथमिश्र, व्याकरण-साहित्याचार्य एम॰ ए॰ का अत्यन्त आभारी हूं जिन्होंने अपने मूल्यवान् विचारों से प्रस्तुत कार्य को अनेकत्र त्रुटियुक्त होने से बचा लिया। अन्त में, चौखम्वा प्रकाशन के अधिकारी जन मेरे धन्यवादार्ह हैं जिनके उत्साह से यह ग्रंथ प्रकाश में आ सका है।

रथ-यात्रा
सं० २०२० }

जगन्नाथ पाठक

॥ श्रीः ॥

ध्वन्यालोकः

'लोचन' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथम उद्द्योतः

लोचनम्

श्रीभारत्यै नमः

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

जो कारण-सामग्री के लेश के विना, अपूर्व (सर्वथा नवीन) वस्तु को उत्पन्न करता—फैला देता है और पत्थर के समान (नीरस) जगत् को अपने रसभार से सारवान् बना देता है तथा क्रम से प्रख्या (कवि की प्रतिभा) और उपाख्या (वचन) के प्रसर से सुभग (हृद्य) होता हुआ (वस्तुजात को) भासित करता है, वह कवि और सहृदय द्वारा आख्यात सरस्वती का तत्त्व (काव्य) विजयी है (सबसे बढ़कर है)।[1]

१. श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने अपने 'लोचन' व्याख्यान के आरम्भ में नमस्कारात्मक मङ्गल 'सरस्वती के कविसहृदयाख्य तत्त्व' की विजय (उत्कर्ष) के रूप में प्रस्तुत किया है। 'सरस्वती का कविसहृदयाख्य तत्त्व' यहाँ काव्य ही प्रतीत होता है, क्योंकि कवि 'काव्य' का रचयिता होता है और सहृदय उसका विचारक या अनुशीलनकर्ता, इस प्रकार दोनों के अस्तित्व का एकमात्र आधार 'काव्य' है, अतः काव्य क्या है ? 'कविसहृदय' रूप है, 'लोचन' की टिप्पणी 'बालप्रिया' में एक दूसरे ढंग से यह भी कहा है कि कवि और सहृदय, दोनों जिसे आख्यान करते अर्थात् कहते हैं (कविसहृदयैराख्यायते उच्यते इति), अथवा कवि और सहृदय में जिसका 'निरन्तर ख्यान' अर्थात् स्फुरण होता है (कविसहृदययोराख्या, आभीक्ष्ण्येन ख्यानं स्फुरणं यस्य)। वाग्देवता सरस्वती ने अपने आपको 'काव्य' के स्वरूप में प्रकट किया है, जैसा कि राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में सरस्वती के पुत्र 'काव्यपुरुष' के कथानक का भी उल्लेख है। यह परम्परा से भारतीय साहित्य की परिनिष्ठित मान्यता है। इस प्रकार 'काव्य' सरस्वती का तत्त्व या पारमार्थिक रूप है। वह इस कारण उत्कर्ष या विजय को प्राप्त है कि उसकी सृष्टि दृश्यमान सृष्टि से सर्वथा अपूर्व है, इसी बात को आचार्य ने मंगल-श्लोक के पूर्व तीन चरणों से सिद्ध किया है। पहली बात यह कही है कि काव्य (कवि-सहृदय) वस्तुजात को, बिना किसी कारण के सम्बन्ध के, अपूर्व अर्थात् सर्वथा नवीन रूप में सामने ला देता है, परन्तु इससे न्यूनतम दृश्यमान जगत् की

लोचनम्

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास-
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।
यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

भट्ट इन्दुराज के चरण-कमलों में रहकर शास्त्रों को हृदयस्थ करके मैं अभिनवगुप्त-पाद अपने 'लोचन' के नियोजन द्वारा जो कुछ भी कथन करके लोगों के समक्ष 'काव्या-लोक' (ध्वन्यालोक) को स्पष्ट करने जा रहा हूँ।[1]

सृष्टि उपादान कारणों के द्वारा होती है, इस दृश्यमान सृष्टि के कर्ता में यह सामर्थ्य नहीं कि विना किसी कारण-सामग्री के सृष्टि कर दे, वह पदे-पदे नियति के नियमों से नियन्त्रित रहता है और दूसरे यह कि उसकी सृष्टि 'अपूर्व' नहीं होती, वही देखी-सुनी वस्तुएँ पैदा करता रहता है। उदाहरणार्थ, दृश्यमान कमल जल के विना उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु काव्य में मुखकमल का, जल के विना ही अपूर्व रूप में उत्पन्न होना प्रसिद्ध है। काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि दृश्यमान जगत्, जो पत्थर की भाँति नीरस और कठोर लगता है, को अपनी रस-सम्पत्ति से सारवान् बना देता है तथा अपनी तीसरी विशेषता से, जो प्रतिभा (प्रख्या) और वचन (उपाख्या) के क्रम में विद्यमान है, अपने सभी अपूर्व और सरस निर्माण को हृद्य बनाती है। यह अपूर्वता, सरसता और हृद्यता कविसहृदयाख्य सरस्वतीतत्त्व रूप 'काव्य' में एकान्ततः प्राप्त होती हैं, जब कि दृश्यमान जगत् में इन्हें एकान्ततः प्राप्त करना कदाचित् किसी के लिए भी संभव नहीं। इस प्रकार यहाँ दृश्यमान जगत् से काव्य-जगत् का उत्कर्ष रूप व्यतिरेक व्यङ्ग्य होता है। अभिनवगुप्त के इस मङ्गल-श्लोक का साक्षात् प्रभाव आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के मङ्गल-श्लोक 'नियतिकृतनियम०' पर पड़ा प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें भी कविनिर्मिति को ब्रह्मनिर्मिति से उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए उसे अनियन्त्रित, हृद्य, अनन्यपरतन्त्र तथा नवरसरुचिर कहा है। प्रस्तुत में यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य अभिनवगुप्त के समग्र साहित्य-दर्शन पर उनके स्वयंनिर्मित प्रत्यभिज्ञादर्शन का पुष्कल प्रभाव पड़ा है। वे 'शिव' में सुन्दर और सत्य के एकनिष्ठ साक्षात्कर्ता थे। सम्भवतः यहाँ 'सरस्वती' के रूप में 'स्वतन्त्र चिति शक्ति' अभिमत हो और 'कविसहृदयाख्य' काव्य स्वयं 'शिव' हो

१. आचार्य ने अपने विद्याश्रम को परम्परागत बताते हुए, क्योंकि ऐसा किसी को भ्रम न हो कि इनकी कल्पनाओं, विचारों में परम्परा नहीं है, अपने पूज्यपाद गुरु 'भट्ट इन्दुराज' का उल्लेख किया है। साथ ही अपने मन्तव्यों के पीछे वह अभिनिविष्ट नहीं हैं, बल्कि वह 'यत्किञ्चित्' अर्थात् जो कुछ भी कहते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को 'स्फुट' करने की प्रवृत्ति रखते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' अपने प्राचीन सङ्केत के अनुसार 'काव्यालोक' के नाम से ही अभिहित रूप में प्राप्त होता है, इसकी 'ध्वन्यालोक' संज्ञा अर्वाचीन प्रतीत होती है। अपनी 'लोचन' टीका के अन्त में भी आचार्य ने इस ग्रन्थ का 'काव्यालोक' के ही नाम से उल्लेख किया है। 'स्वलोचननियोजनया' अर्थात् अपने 'लोचन' के नियोजन द्वारा; यहाँ 'लोचन' पद प्रस्तुत टीका, विचार तथा मन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह कि मैं 'लोचन' टीका के रूप में अपना 'विचार' या मन को प्रणिहित करके लोगों के समक्ष 'काव्यालोक' को स्फुट या स्पष्ट कर रहा हूँ। दूसरे यह कि 'लोचन' अर्थात् आँख, प्रस्तुत 'लोचन' के रूप में लोगों को 'आँख' दे रहा हूँ, ताकि 'आलोक' में 'काव्य' को वे स्पष्ट रूप से देख सकें। किसी भी विशेष वस्तु को देखने के लिए विशेष 'दृष्टि' की आवश्यकता होती है, वाह्य दृष्टि का उपयोग केवल सामान्य है। इसीलिए 'गीता' में भगवान्

ध्वन्यालोकः

श्रीनृहरये नमः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

अपनी इच्छा से केसरी (सिंह) का रूप धारण किये हुये भगवान् मधुरिपु (मधु नामक दैत्य के शत्रु विष्णु) के, स्वच्छ अपनी छाया (कान्ति) से इन्दु को आयासित (खिन्न) करने वाले तथा प्रपन्न (शरणागत) जनों की आर्ति का छेदन करने वाले नख आप लोगों की रक्षा करें ।

लोचनम्

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतॄणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसांमुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वेच्छेति ।

वृत्तिकार[1] स्वयं विच्छेद-रहित (निरन्तर) परमेश्वर के नमस्कार की सम्पत्ति (परम्परा, आधिक्य) से कृतार्थ होने पर भी व्याख्याता और श्रोताओं की बिना किसी विघ्न के अभीष्ट व्याख्या के श्रवण रूप फल-सम्पत्ति के लिये समुचित आशीर्वाद के प्रकाशन द्वारा परमेश्वर का आभिमुख्य करते हैं—अपनी इच्छा— ।

कृष्ण ने अपने 'ऐश्वर रूप' को दिखाने के लिए अर्जुन को 'दिव्य चक्षु' देते हुए कहा है—न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ (११।८) इसी प्रकार आचार्य अभिनव ने यहाँ 'लोचन' का एक विशेष 'दृष्टि' के अर्थ में प्रयोग किया है, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् किसी को काव्य का रहस्य अदृष्ट नहीं रह जाता ।

१. वृत्तिकार अर्थात् मूल कारिकाग्रन्थ के वृत्तिग्रन्थ का रचयिता । प्रस्तुत 'लोचन' का आशय यह है कि वृत्तिकार को मङ्गल-श्लोक द्वारा परमेश्वर का नमस्कार करना प्रस्तुत में अभीष्ट न था, क्योंकि वह तो निरन्तर परमेश्वर को नमस्कार करते रहते हुए स्वयं कृतार्थ हो चुके थे, फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ के व्याख्याताओं और श्रोताओं को अभीष्ट व्याख्याश्रवण की फलसम्पत्ति निर्विघ्न रूप में प्राप्त होती रहे, यह उन्हें परम अभिप्रेत था । इसलिए यहाँ वृत्तिकार समुचित आशीर्वाद के प्रकाशन द्वारा परमेश्वर का साम्मुख्य या आभिमुख्य करते हैं, अर्थात् परमेश्वर से व्याख्याता और श्रोताओं के कल्याण की कामना करते हैं ।

यह प्राचीन भारतीय परम्परा से चला आ रहा है कि ग्रन्थकार अपनी ओर से किसी भी इष्ट देवता को अपने और अपने श्रोतृवर्ग के कल्याण के लिए मङ्गलाचरण के रूप में नमन करता है । अपने लिए प्रायः ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति उसे अभिप्रेत होती है । यह मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं, आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक । प्रस्तुत मङ्गलाचरण 'आप लोगों की रक्षा करें' इस रूप में होने के कारण आशीर्वादात्मक शैली का है । इसे ग्रन्थकार अपने मन में भी कर ले सकता था; परन्तु प्राचीनकाल में शिष्यों के शिक्षार्थ मङ्गलाचरण को लिपिबद्ध करना अनिवार्य समझा जाता था ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि लोचनकार मङ्गल-श्लोक को प्रस्तुत करते हुए 'वृत्तिकार' का उल्लेख करते हैं, इससे यह प्रतीत होना स्वाभाविक है कि मङ्गल-श्लोक मूलग्रन्थ का नहीं अपितु वृत्तिग्रन्थ का है । ऐसी स्थिति में आचार्य आनन्दवर्धन यदि मूलग्रन्थकार हैं तो वृत्तिग्रन्थ का रचयिता कौन है अथवा आनन्दवर्धन वृत्तिग्रन्थ के यदि रचयिता हैं तो मूलग्रन्थ

लोचनम्

मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान्व्याख्यातृश्रोतॄंस्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात्; सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः, त्राणं चाभीष्टलाभं प्रति साहायकाचरणं, तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसारणादिना भवतीति, इयदत्र त्राणं विवक्षितम्; नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते, नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन

मधु के शत्रु (विष्णु) के नख आप सभी व्याख्याता और श्रोताओं की रक्षा करें, क्योंकि वे ही (व्याख्याता और श्रोता) सम्बोधन के योग्य हैं। 'सम्बोधन' युष्मत् शब्द के अर्थ का सार (प्राण) है (सम्बोध्य पदार्थ की उपस्थिति में ही 'युष्मत्' या आप–तुम का प्रयोग होता है)। और, त्राण (रक्षण) अभीष्ट के लाभ के प्रति सहायता प्रदान करना है और वह (सहायताप्रदान) उस (अभीष्ट लाभ) के प्रतिद्वन्द्वी विघ्नों के अपसारण आदि द्वारा होता है, इस रूप में यहाँ त्राण विवक्षित है।[1] नित्य उद्योगशील भगवान् के असम्मोह और अध्यवसाय से युक्त होने के कारण उत्साह की प्रतीति होने से वीररस ध्वनित होता है।[2] नखों के प्रहरण (प्रहार के साधन)

का रचयिता कौन है, ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं। यत्र-तत्र लोचनकार ने 'मूलकृत्', 'कारिकाकार' और 'वृत्तिकृत्' रूप में व्याख्यान किया है। लेकिन प्राचीन मान्यता यही रही है कि आनन्दवर्धन ही मूलकार और वृत्तिकार स्वयं हैं। लोचनकार के उल्लेख के अनुसार प्रस्तुत मङ्गलश्लोक को वृत्तिग्रन्थ के रूप में ही छापने की पद्धति चली आ रही है, मूल कारिका ग्रन्थ को मोटे अक्षरों में छापा जाता है।

कारिकाकार और वृत्तिकार को अभिन्न मानने वालों का एक तर्क यह भी है कि यदि कारिकाग्रन्थ का कर्ता कोई दूसरा होता तो निश्चय ही वह अपनी ओर से मङ्गलाचरण प्रस्तुत करता। यद्यपि इसके विपरीत एक यह भी युक्ति दी जा सकती है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस प्रयोग से कारिकाग्रन्थ का आरम्भ करके निश्चय ही वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल किया गया है, क्योंकि 'काव्य' भी 'शब्दमूर्तिधर भगवान् विष्णु का अंश' माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह भी एक प्रकार का मङ्गलाचरण हो जाता है। अस्तु, मूल कारिकाकार और वृत्तिकार के भिन्न अथवा अभिन्न होने का विचार प्रामाणिक और तर्कपूर्ण ढंग से 'भूमिका' में आकलनीय है।

१. अभीष्ट व्याख्याश्रवण ही प्रस्तुत प्रयास का फल है, और यह तभी सम्भव है जब व्याख्याता और श्रोतृवर्ग दोनों त्राण (रक्षा) प्राप्त करें। फलतः त्राण उनके अभीष्ट लाभ का सहायक सिद्ध होता है। वह भी इस अर्थ में कि उसके द्वारा समग्र प्रतिद्वन्द्वी विघ्नों का अपसारण आदि कार्य होते हैं। इस प्रकार यहाँ भगवान् मधुरिपु के नख त्राण या रक्षा करें, अर्थात् अभीष्ट व्याख्याश्रवण के प्रतिद्वन्द्वी रूप में उपस्थित होने वाले सभी प्रकार के विघ्नों का अपसारण करें, यह वृत्तिकार का अभिप्रेत अर्थ लोचनकार के मत में प्रकट होता है।

२. प्रस्तुत काव्य आत्मभूत ध्वनितत्त्व का मूलतः प्रतिपादन करता है, अतः यह स्वाभाविक है कि ग्रन्थकार अपने मङ्गलाचरण में ही 'ध्वनि' के प्रधान रूपों का निर्देश करें। इस उद्देश्य से लोचनकार ने यहाँ रस, वस्तु और अलङ्कार के ध्वनित होने का प्रकार बताया है। सर्वप्रथम ध्वनियों में प्रधान रसध्वनि की चर्चा में कहते हैं कि यहाँ वीररस ध्वनित होता है क्योंकि उत्साह की प्रतीति होती है, और उत्साह ही वीररस का स्थायी भाव है। उत्साह इसलिए कि भगवान् मधुरिपु अपने नखों द्वारा त्राण-कार्य में नित्य उद्योगशील हैं, एवं उनमें किसी प्रकार का

लोचनम्

करणत्वात्सातिशयंशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः, कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वेच्छया केसरिणः, न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतसिंहरूपस्येत्यर्थः; कीदृशा नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दन्ति; नखानां हि छेदकत्वमुचितम्; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वं नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात्सम्भाव्यत एवेति भावः।

अथ वा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्ति-

होने से और प्रहार के साधन द्वारा रक्षण के कर्तव्य होने से, अव्यतिरिक्त (अपृथग्भूत) रूप से करण (आभ्यन्तर करण) होने के कारण कर्ता रूप देकर अतिशययुक्त शक्तिमत्त्व को सूचित किया है। और, परमेश्वर को व्यतिरिक्त (अपने शरीर से पृथग्भूत) करण (साधन) की अपेक्षा नहीं होती है, यह ध्वनित किया। 'मधुरिपु' के द्वारा उस परमेश्वर का उद्योग संसार के त्रास के निवारणार्थ सदैव चलता रहता है, यह कहा है। किस प्रकार के मधुरिपु के ? अर्थात् जो अपनी इच्छा से केसरी (सिंह, नृसिंह) बन गये, न कि (पूर्व) कर्म की परतन्त्रता के कारण; और दूसरे किसी की इच्छा से भी नहीं, अपितु विशिष्ट दानव (हिरण्यकशिपु) के हनन के लिए उचित उस प्रकार की इच्छा के परिग्रह के औचित्य से ही जिन्होंने सिंह का रूप स्वीकार किया। किस प्रकार के नख ? जो प्रपन्नों (शरणागतों) की आर्ति (कष्ट) का छेदन करते—निवारण करते—हैं, क्योंकि नखों का छेदकत्व उचित है; फिर (नखों के द्वारा) छेद्य होना नखों के प्रति असम्भावनीय होकर भी उन (परमेश्वर) के नखों के अपनी इच्छा से निर्मित होने के औचित्य से सम्भावित होगा ही, यह भाव है।

अथवा, तीनों जगत् का कंटक हिरण्यकशिपु संसार को क्लेश पहुंचाने वाला था, इस प्रकार वही वस्तुतः प्रपन्न, भगवान् की एकमात्र शरण में आये हुये जनों का

सम्मोह नहीं तथा उन्होंने यही अध्यवसाय या निश्चय भी कर लिया है। 'दिव्याञ्जना' टिप्पणी में मेरे पूज्य गुरुजी ने 'लोचन' के 'उत्साहप्रतीति' प्रयोग को लेकर बताया है कि यहाँ वीररस के स्थायी भाव उत्साह के साथ अन्य विभावादि की नान्तरीयक रूप से पानकरसन्यायेन प्रतीति होती है। क्योंकि यह नियम है कि रस के उद्बोधक किसी एक के विद्यमान रहने पर झटिति अन्य तत्त्वों का आक्षेप कर लिया जाता है—

(सद्भावश्च विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥)

इस प्रकार यहाँ उत्साह का आलम्बन मधु दैत्य है, उसके निर्भीकत्वादि का ज्ञान रूप उद्दीपन तथा उसके प्रति अवहेला आदि अनुभाव एवं गर्व आदि सञ्चारियों की प्रतीति उत्साहप्रतीति के साथ हो जाती है। इस प्रकार यहाँ वीररस पूर्णतया ध्वनित होता है। लोचनकार ने 'उत्साह की प्रतीति' को सभी अन्य तत्त्वों की प्रतीति के उपलक्षण रूप में उल्लेख किया है।

लोचनम्

खेदोच्छिन्ना भगवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तं, किंच ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन; स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव; स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः-खेदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्वं ध्वन्यते, आयासनेन तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिरहृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते, आयासकारित्वं च

आर्तिकारी (दुःखदायी) होने के कारण आर्ति का मूर्त रूप ही था, उसका विनाश करते हुये (नखों द्वारा) आर्ति ही उच्छिन्न की जाती है, इस प्रकार परमेश्वर का उस अवस्था में भी परमकारुणिकत्व कहा है।[1] और भी, वे नख स्वच्छ अर्थात् स्वच्छता गुण रूप निर्मलता के द्वारा, क्योंकि 'स्वच्छ' 'मृदु' प्रभृति शब्द मुख्य रूप से भाववृत्ति (स्वच्छता आदि धर्म के वाचक ही हैं; और अपनी छाया से, वक्र एवं हृद्य रूप आकृति से आयासित, खेदित (खेद को प्राप्त) इन्दु (चन्द्र) है जिनके द्वारा। यहाँ 'अर्थशक्तिमूलध्वनि' से इन्दु (चन्द्र) का बालत्व ध्वनित होता है। 'आयास पहुंचाने' से नखों के समीप चन्द्र के विच्छायत्व (कान्तिराहित्य) की प्रतीति

१. 'नखों के प्रहरण' से आरम्भ करके इस अङ्कित स्थल तक 'वस्तुध्वनि' का निरूपण किया है। श्लोक में ऐसा नहीं कहकर कि मधुरिपु आप लोगों की रक्षा करें, कहा गया है कि मधुरिपु के नख आप लोगों की रक्षा करें, यद्यपि कि मधुरिपु के नख मधुरिपु से भिन्न नहीं, तथापि वे नख मधुरिपु से अपृथक् होने के कारण त्राण के कार्य में असाधारण कारण रूप से प्रस्तुत किये गये हैं, क्योंकि नख एक प्रकार के प्रहरण अर्थात् प्रहार के साधन, किंवा आयुध हैं, आयुध द्वारा अपनी या अन्य की रक्षा ही मुख्य रूप से कर्तव्य होती है। दूसरे यह कि नखों को त्राण का कर्ता बनाकर उनकी सातिशयशक्तिता अर्थात् अतिशय शक्तिमान् होना, सूचित किया है। तात्पर्य यह कि भगवान् मधुरिपु के नख स्वयं ही अपने आप में इस प्रकार पूर्ण सामर्थ्य रखते हैं कि त्राण कर सकें। इससे एक और 'वस्तु' यह भी ध्वनित होती है कि परमेश्वर को जगत् के त्राण जैसे कार्य के लिए अपने से अतिरिक्त साधन (व्यतिरिक्त करण) की अपेक्षा नहीं, बल्कि उनका यह कार्य अपने ही शरीर के एक तुच्छ और साधारण तत्त्व नख से ही सम्पन्न हो जाता है।

अब इसी प्रसंग में क्रम से श्लोक के विशेषणों से ध्वनित 'वस्तु' का प्रतिपादन करते हैं। स्वयं विशेष्यभूत विशेषण 'मधुरिपु' की व्यञ्जना है कि भगवान् जगत् को त्रस्त करने वाले मधु दैत्य आदि के शत्रु होकर जगत्त्रासापसारणार्थ निरन्तर उद्योगशील हैं, अर्थात् उनका यह स्वभाव ही है कि संसार के भय का निवारण करते रहें। 'अपनी इच्छाशक्ति से केसरी (सिंह) का रूप धारण किए हुए' इस विशेषण की व्यञ्जना के अनुसार उन पर न तो किसी प्रकार कर्म की परतन्त्रता है और न दूसरे किसी की इच्छा का दबाव है, बल्कि हिरण्यकशिपु जैसे विशिष्ट दानव, जिसने किसी समय, किसी स्थान पर तथा किसी व्यक्ति से न मारे जाने का वर प्राप्त कर लिया था, के हनन की उचित इच्छा के परिग्रह के औचित्य से ही जिन भगवान् मधुरिपु ने नरसिंह का स्वरूप धारण किया। नखों के विशेषण रूप में कहते हैं 'प्रपन्न जनों की आर्ति का छेदन करने वाले'; नख का उचित कार्य छेदन ही होता है। यद्यपि 'आर्ति' या पीड़ा का छेद्य होना सम्भव नहीं, तथापि परमेश्वर के स्वेच्छानिर्मित नखों द्वारा उसका छेद्य होना भी यहाँ असम्भाव्य नहीं समझना चाहिए। अथवा भगवान् के प्रपन्न प्रह्लाद आदि जनों के आर्तिप्रद होने के कारण आर्ति का मूर्त रूप उस हिरण्यकशिपु का नखों द्वारा छेदन ही यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार ऐसी

लोचनम्

नखानां सुप्रसिद्धम्; नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम्, किंच तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति; तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुशलाः; न त्वहमिति व्यतिरेकालङ्कारोऽपि ध्वनितः, किंचाहं पूर्वमेक एवासाधारणवैशद्यहृद्याकारयोगात्समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्; अद्य पुनरेवंविधा नखा दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरविरतमायासमनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि, एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः।

और अहृद्यत्व की प्रतीति होती है। और नखों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है, और नृसिंह के नखों का वह (आयासकारित्व) लोकोत्तर रूप से प्रतिपादित है। और भी,[१] उन नखों की स्वच्छता और कुटिलिमा (टेढ़ापन) को देखकर बालचन्द्र अपने आप में खेद अनुभव करता है, स्वच्छ एवं कुटिल आकार के सम्बन्ध के समान होने पर भी (अर्थात् जैसी स्वच्छता और कुटिलिमा नखों में है वैसी ही मुझ बालचन्द्र में है) ये (नख) प्रपन्न जनों की आर्ति के निवारण में कुशल हैं, मैं नहीं, यह 'व्यतिरेक अलङ्कार' भी ध्वनित होता है। और भी, मैं पहले एक अकेले ही असाधारण वैशद्य (स्वच्छता) एवं हृद्य आकार के योग से समस्त जनों की अभिलषणीयता का पात्र था, आज फिर इस प्रकार के नख दस बालचन्द्रों के आकार वाले और सन्ताप तथा आर्ति के छेदन में कुशल हैं, उन्हें ही संसार बालचन्द्र के बहुमान से देखता है न कि मुझे, इस प्रकार आकलन करता हुआ बालचन्द्र निरन्तर आयास को जैसे अनुभव करता है, यह 'उत्प्रेक्षा' और 'अपह्नुति' का ध्वनि भी है। इस प्रकार हमारे गुरुजी (भट्ट इन्दुराज) ने वस्तु, अलङ्कार और रस के भेद से तीन प्रकार के 'ध्वनि' का इस श्लोक में व्याख्यान किया है।

स्थिति में भी परमेश्वर की परमकारुणिकता अभिहित हो जाती है, जो प्रस्तुत विशेषण का मुख्य तात्पर्य है।

फिर नख का एक दूसरा विशेषण 'स्वच्छता और अपनी छाया (आकृति) से इन्दु (चन्द्र) को आयासित करने वाले'; यहाँ लोचनकार ने 'स्वच्छ' को 'स्वच्छाया' का विशेषण न मान कर स्वतन्त्र अर्थ 'स्वच्छता' या नैर्मल्य किया है, 'छाया' अर्थात् वक्र एवं हृद्य आकृति। इस प्रकार लोचनकार के अनुसार यहाँ अर्थशक्तिमूल ध्वनिव्यापार से नखों का बालचन्द्रत्व ध्वनित होता है, दूसरे, नखों द्वारा इन्दु के आयासन से यह प्रतीति ध्वनित हुई कि उन नखों के समीप चन्द्र शोभाहीन है एवं अहृद्य है; क्योंकि आयासकारी होना नखों के पक्ष में सर्वविदित है। अर्थात् भगवान् नृसिंह के नख अपनी निर्मलता और आकृति से बालचन्द्र को आयासित करते हैं, मतलब यह कि उनके नजदीक बालचन्द्र विच्छाय (फीका) और अहृद्य (दिलकश न लगने वाला) प्रतीत होता है। नृसिंह के नखों के आयासकारित्व की लोकोत्तरता यह है कि अन्य लौकिक नख में उस प्रकार बालचन्द्र को आयासित करने वाली स्वच्छता एवं वक्र-हृद्य आकृति नहीं होती।

१. 'अलङ्कारध्वनि' का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो बालचन्द्र को इस बात का

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

बुधजनों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह पहले से समाम्नात किया है, दूसरे लोगों ने उसका अभाव कहा, अन्य लोगों ने उसे 'भाक्त' कहा, कुछ लोगों ने उसके तत्त्व को वाणी का अगोचर कहा, अतः सहृदय जनों के मन की प्रीति के लिये उस (ध्वनि) का स्वरूप कहते हैं ॥ १ ॥

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधदप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्सम्बद्धं प्रयोजनं च सामर्थ्यात्प्रकटयन्नादिवाक्यमाह—*काव्यस्यात्मेति ।*

अब[1] प्रधान रूप से (इस ग्रन्थ के) अभिधेय के स्वरूप की चर्चा करते हुये, अप्रधान रूप से प्रयोजन के प्रयोजन को और उससे सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये, प्रथम वाक्य कहते हैं—बुध जनों ने काव्य के आत्मा—

खेद था कि नखों जैसी स्वच्छता तथा कुटिलता उसमें नहीं है, और इस अंश में यदि किसी प्रकार दोनों की समानता हो भी जाय तब भी बालचन्द्र को अपनी यह कमी खलेगी ही कि नखों की भाँति प्रपन्न जनों की आर्ति के निवारण में वह कुशल नहीं हो सका; इस प्रकार उपमानभूत बालचन्द्र से उपमेयभूत नखों के आधिक्य की प्रतीति होने से 'व्यतिरेक' नामक अलङ्कार भी ध्वनित हुआ। 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश)।

फिर यहीं दूसरे प्रकार से आचार्य ने उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलङ्कारों के ध्वनि का निर्देश किया है। उत्प्रेक्षा यह है कि मानों बालचन्द्र निरन्तर आयास अनुभव करता है और 'अपह्नुति' का स्थल यह हुआ कि उन्हीं नखों को सारा संसार बालचन्द्र के बहुमान या गौरव से देखता है, जब कि मैं (बालचन्द्र) साक्षात् विद्यमान हूँ। यहाँ उत्प्रेक्षा अपह्नति के बल पर होती है, क्योंकि जब संसार बालचन्द्र को बालचन्द्र न समझकर नखों को बालचन्द्र का गौरव देता है, तभी बालचन्द्र का आयासित होना भी सम्भावित है। इस प्रकार यहाँ दोनों का अङ्गाङ्गिभाव रूप 'संकर' ध्वनित है।

१. प्रस्तुत ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' का प्राधान्यतः अभिधेय या प्रतिपाद्य 'ध्वनि' तत्त्व है, ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है तथा इस प्रयोजन का प्रयोजन सहृदयजनों के मन की प्रतीति या प्रसन्नता है। इस प्रकार दूसरे प्रयोजन 'प्रीति' से सम्बद्ध प्रयोजन 'ध्वनिस्वरूप का ज्ञान' की चर्चा ग्रन्थकार 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में निबद्ध प्रथम वाक्य में करते हैं, यह लोचनकार का निर्देश है। यहाँ आकलनीय बात यह है कि प्राचीन ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ करते हुए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते थे कि प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय क्या है, अधिकारी कौन है, सम्बन्ध क्या है तथा प्रयोजन क्या है, इन्हीं विषय-अधिकारी-सम्बन्ध-प्रयोजन को शास्त्रीय भाषा में 'अनुबन्धचतुष्टय' कहते थे। उन ग्रन्थकारों का ऐसा करने में यह तात्पर्य था कि पहले ही उनका ग्रन्थ उन लोगों से

ध्वन्यालोकः

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।

बुध अर्थात् काव्य के तत्त्वज्ञ लोगों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा दी है और जिसे परम्परा से, पूर्व में ही समाम्नात, सम्यक् आ समन्तात् म्नात, प्रकटित किया है, सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान भी उस (ध्वनि) का अन्य लोग अभाव कहते हैं। उसके अभाववादियों के ये विकल्प सम्भव हैं।

लोचनम्

काव्यात्मशब्दसंनिधानाद् बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति—*काव्यतत्त्वविद्भिरिति*। आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति। इतिशब्दः स्वरूपपरत्वं ध्वनि-

'काव्य के आत्मा' इस शब्द के समीप में रहने से 'बुध' शब्द यहाँ पर 'काव्य के आत्मा का अवबोध (ज्ञान)' इस प्रयोग के लिये है, इस अभिप्राय से विवरण करते हैं—काव्य के तत्त्वज्ञ[1] लोगों ने—। 'आत्मा' शब्द का 'तत्त्व' शब्द से अर्थ-विवरण करते हुये सारत्व और दूसरे शब्द (प्रतिपाद्यों) से वैलक्षण्यकारित्व को दिखाया है। 'यह' (इति) शब्द 'ध्वनि' का स्वरूप में तात्पर्य बतलाता है, क्योंकि उस (ध्वनि)

बच जायेगा, जो उसके अधिकारी होने की क्षमता नहीं रखते हैं तथा जो अधिकारी जन हैं उन्हें अपने प्रयोजन तक पहुँचने में सरलता भी हो जायगी। 'लोचन' में इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की उपर्युक्त अवतरणिका दी है। यहाँ विषय 'ध्वनि' का स्वरूप है, अधिकारी सहृदयजन हैं ('सहृदय' की परिभाषा आगे 'लोचन' में स्पष्टता से मिलेगी), (विषय के साथ) सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादक है, और सहृदय के साथ उपकार्योपकारक भाव रूप सम्बन्ध है तथा प्रयोजन प्रीति है। इस प्रयोजन से सम्बद्ध ध्वनिस्वरूप ज्ञान रूप प्रयोजन सामर्थ्य या आक्षेप से ही प्राप्त होता है, क्योंकि सहृदयों की प्रसन्नता ध्वनिस्वरूप के ज्ञान के बिना नहीं सिद्ध हो सकती।

१. कारिकाकार 'ध्वनि' के लिए (काव्य की) 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं और वृत्तिकार ने 'आत्मा' के स्थान पर 'तत्त्व' शब्द रखा है। लोचनकार के अनुसार वृत्ति में 'आत्मा' की 'तत्त्व' शब्द से अर्थ-विवृति की गई है। इस प्रकार प्रस्तुत 'बुध' शब्द से उन बोध रखनेवाले लोगों का अर्थ गृहीत है, जो काव्य के 'तत्त्व' को जानते हैं, न कि सभी प्रकार के बुध जन। 'आत्मा' की विवृति 'तत्त्व' से करके दो विशेष बातें निर्दिष्ट की हैं—एक तो 'सारत्व', अर्थात् 'ध्वनि' काव्य का 'सारभूत' है तथा दूसरे शब्दप्रतिपाद्यों से वैलक्षण्यकारित्व, अर्थात् 'ध्वनि'-शब्दप्रतिपाद्य वह तत्त्व है जो किसी भी अन्य शब्दप्रतिपाद्य से मेल नहीं खाता, बल्कि उनसे अत्यन्त वैलक्षण्यकारी है। यह यहाँ ध्यान देने की बात है कि लोचनकार इस 'ध्वनितत्त्व' को 'विलक्षण' न कहकर 'वैलक्षण्यकारी' कहते हैं। 'विलक्षण' कहने से लौकिक-वैदिक-शब्द-प्रतिपाद्यों से इसकी भिन्नतामात्र सिद्ध होती है और भिन्नता इसलिए अपेक्षित नहीं कि अनुत्कृष्ट तत्त्व भी तो

लोचनम्

शब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थवत्त्वायोगात्। एतद्विवृणोति-*संज्ञित इति*। वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत समस्तसारभूतम्। न ह्यन्यथा बुधास्तादृशमामनेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति-*तस्य सहृदयेत्यादि*ना। एवं तु युक्ततरम्—इतिशब्दो भिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नात इति। शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गतिः? एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेद्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन

के अर्थ के विवादास्पद होने के कारण निश्चय न होने से अर्थवत्त्व नहीं बनता। इसे विवरण करते हैं—संज्ञा[1] दी है—। वास्तव में, उसे संज्ञामात्र से नहीं कहा है, अपितु है ही ध्वनि शब्द का वाच्य, प्रत्युत वह सब का सारभूत (भी) है। अन्यथा बुध जन उस प्रकार के (ध्वनि-तत्त्व को) आम्नात नहीं करते, इस अभिप्राय से विवरण करते हैं—सहृदय जनों में—इत्यादि से। परन्तु इस तरह का व्याख्यान ज्यादातर ठीक होगा—'यह' (इति) शब्द भिन्न क्रम से पठित होकर वाक्यार्थ का परामर्शक है, अर्थ होगा—ध्वनि रूप अर्थ 'काव्य का आत्मा' यह जो समाम्नात है। यदि ('ध्वनि' शब्द को 'ध्वनि' इस) संज्ञा मात्र के अर्थ में मानते हैं तो 'ध्वनि, इस संज्ञा वाला अर्थ है' यह क्या सङ्गति बैठेगी? क्योंकि इस प्रकार, 'ध्वनि शब्द काव्य का आत्मा है' ऐसा कहा जायगा, जैसे 'गौ' ऐसा यह कहता है। यह नहीं कि विप्रतिपत्ति (आशङ्का) का स्थान बिलकुल है ही नहीं, बल्कि धर्मी के होते हुये ही धर्मपात्र के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति

उत्कृष्ट तत्त्व से भिन्न होता है! इसलिए वह 'ध्वनि तत्त्व' वैलक्षण्यकारी है, अर्थात् काव्य में वैलक्षण्य उत्पन्न करनेवाला है। वैलक्षण्य यहाँ कमाल या वैशिष्ट्य के अर्थ में ग्राह्य है।

१. 'काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा दी है' इस वृत्तिग्रन्थ पर लोचनकार ने विचार किया है। मूल 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति=काव्य के आत्मा को ध्वनि यह' इस ग्रन्थ का 'यह' शब्द यहाँ 'ध्वनि' शब्द का स्वरूप में तात्पर्य बताता है, क्योंकि अभी तो यह निर्णय नहीं किया गया है कि ध्वनि आखिर किस अर्थ को कहते हैं, ऐसी स्थिति में तत्काल 'ध्वनि' इस संज्ञा शब्द को ही काव्य का आत्मा मान लेना चाहिए, फिर आगे चलकर ध्वन्यर्थ का स्पष्टीकरण होता रहेगा। वृत्तिकार ने मूलग्रन्थ को इसी उद्देश्य से लगाया है। लोचनकार इसी व्याख्यान के समर्थन में यह कहते हैं कि यद्यपि यहाँ संज्ञामात्र से ध्वनि तत्त्व का निर्देश किया गया है, तथापि यह किसी को गलतफहमी न होनी चाहिए कि ध्वनिशब्द का वाच्य कोई है ही नहीं, यदि ऐसा होता तो बुध जन इसे स्वीकार कैसे करते?

परन्तु इस प्रकार के व्याख्यान से स्वयं लोचनकार को सन्तोष नहीं है। यहाँ 'यह' ('इति') शब्द विचारणीय है, उसी के अर्थ का प्रश्न है। ऊपर उसे शब्दपरामर्शक मानकर 'ध्वनि' शब्द का स्वरूप में तात्पर्य बताया गया है, परन्तु लोचनकार कहते हैं कि इसे भिन्नक्रम और वाक्यार्थ-परामर्शक समझना चाहिए। इसके अनुसार 'यह' शब्द 'काव्य का आत्मा' के बाद चला जायगा और 'ध्वनि' का अर्थ होगा 'ध्वनि रूप अर्थ'; पूरा रूप होगा—'ध्वनि रूप अर्थ काव्य का आत्मा है, यह जो समाम्नात है। जैसा कि 'ध्वनि' शब्द को 'ध्वनि' पद का अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो किसी प्रकार ग्रन्थ की सङ्गति नहीं बैठेगी, तब तो 'ध्वनि' शब्द ही 'काव्यात्मा' के रूप में

लोचनम्

भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन। बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे—*परम्परयेति*।

अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः; एतत्त्वादरेणोपदिष्टम्। तदाह—*सम्यगाम्नातपूर्व* इति। पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च—*सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित* इत्यनेन। *तस्येति*। यस्याधिगमाय प्रत्युत यतनीयं, का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं

है, अब सहृदय जनों को उद्विग्न करने वाली यह अप्रासङ्गिक चर्चा व्यर्थ है। एक 'बुध' का उस प्रकार कथन प्रामादिक भी हो सकता था, किन्तु बहुतों का वह (प्रामादिक कथन) नहीं बन सकता। इसलिये 'बुध' में बहुवचन है[1]। उसी की व्याख्या करते हैं—परम्परा से—।

अभिप्राय यह कि कभी विच्छिन्न न होने वाले प्रवाह के क्रम से उन (बुधों) ने इसे कहा है, विशिष्ट पुस्तकों में इसका स्थापन भी नहीं किया है। बहुत से बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु को आदरपूर्वक उपदेश नहीं करते, इसे तो आदरपूर्वक उपदेश किया है। उसे कहते हैं—पहले से समाम्नात किया है—। 'पहले से' ('पूर्व') इस उल्लेख से, यह पहले-पहल नहीं सम्भावित किया है, यह कहते हैं और व्याख्या करते हैं—सम्यक् आ समन्तात् म्नात, प्रकटित—। उसका।—जिसे प्राप्त करने के लिये प्रत्युत यत्न करना चाहिये उसके अभाव की फिर सम्भावना क्या? इसलिये क्या करें,

---

गृहीत होने लगेगा, जो सर्वथा अनभीष्ट है। प्रस्तुत को यदि वाक्यार्थपरामर्शक स्वीकार कर लेते हैं तो एक प्रश्न और उठ सकता है जिसकी लोचनकार सम्भावना करके यह निराकरण भी देते हैं। प्रश्न होगा कि ध्वनि के सम्बन्ध में जो विप्रतिपत्तियाँ निर्दिष्ट की गई हैं, 'ध्वनि' रूप अर्थ को प्रस्तुत में स्वीकार करने पर उनकी सम्भावना नहीं रहेगी, क्योंकि जब कि 'ध्वनि' रूप अर्थ को प्रायः विप्रतिपत्तिकारों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया ही है, इसके समाधान में कहना है कि ध्वनि रूप अर्थ [धर्मी] के निर्विवाद होने पर भी धर्ममात्र में विप्रतिपत्तियाँ उपपन्न होंगी। अर्थात् 'ध्वनि' रूप अर्थ को स्वीकार करते हुए भी विप्रतिपत्तिकारों ने उसे गलत रूप में समझ लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी गलतियों के निराकरणार्थ ही ग्रन्थकार प्रयत्नशील हैं। संक्षेप यह कि ध्वनि के सम्बन्ध में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं, प्रत्युत ध्वनि के स्वरूप के निर्णय में मतभेद अवश्य है। जिस प्रकार 'शब्द' के सम्बन्ध में किसी को सन्देह या विप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु उसके नित्यत्व और अनित्यत्व धर्मों के सम्बन्ध में मतभेद अवश्य है। कोई नित्यत्ववादी है और कोई अनित्यत्ववादी। इसी प्रकार ध्वनि को गुण और अलङ्कार में अन्तर्भूतत्व, भाक्तत्व आदि धर्मों को लेकर विप्रतिपत्तियां अवश्य उपपन्न होंगी।

१. मूल कारिकाग्रन्थ में प्रयुक्त 'बुधैः' के 'बहुवचन' पर विचार करते हैं। यहाँ यह बात कही जा सकती है कि जब बुध काव्यतत्त्ववेत्ता होकर कुछ भी कहता है तो उसके वचन में अप्रामाण्य की सम्भावना हो ही नहीं सकती, ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं कि काव्यतत्त्ववेत्ता

लोचनम्

मौर्ख्यमभाववादिनामिति भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः, किं तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुत्पन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्; बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः–जगदुरिति।

अभाववादियों की मूर्खता की कोई सीमा नहीं। हमने अभाववादियों के विकल्प नहीं सुने हैं, किन्तु (उनकी) सम्भावना करके दोष देंगे, इससे (उन विकल्पों का) परोक्षत्व (सिद्ध) होता है। जो भविष्य में होने वाली वस्तु है, उसमें दोष तो दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह सर्वथा उत्पन्न ही नहीं है। अगर कहें कि बुद्धि में आरोपित करके दोष देंगे तो बुद्धि में आरोपित होने के ही कारण भविष्य में होने की बात नहीं बनती। अतः भूतकाल के उन्मेष से, परोक्षत्व के कारण और विशिष्ट (कालविशेष रूप) अद्यतनत्व के प्रतिभान के न होने के कारण 'लिट् लकार' से प्रयोग किया है—जगदुरिति[1]—।

अनेक हों। इस पर लोचनकार का कहना है कि यद्यपि बुध 'काव्यतत्त्ववेत्ता' ही यहाँ विवक्षित है, किन्तु सही बात एक मुख से न निकलकर अनेक मुख से कही जाय तो उसकी प्रामाणिकता और भी पुष्ट हो जाती है, दूसरे, किञ्चित् प्रमाद होने की सम्भावना भी जाती रहती है। साथ ही, अन्य शब्द का प्रयोग न करके 'बुध' के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि अत्यन्त जड प्रकृति के लोग अगर बहुत भी हों और एक ही बात को कहते हों तब भी उनकी बात आदरणीय नहीं होती, यहाँ ऐसी स्थिति नहीं। बल्कि 'ध्वनि' को 'काव्य का आत्मा' उन लोगों ने स्वीकार किया है जो काव्यतत्त्व के पूर्ण जानकार हैं, बुध हैं तथा एक परम्परा (अविच्छिन्न प्रवाह) से इस सिद्धान्त को समाम्नात करते आ रहे हैं। इस सिद्धान्त के समर्थन में। बुद्धजनों का कथन इस प्रकार व्यापक था कि किसी ने इसके लेखन का अनावश्यक श्रम स्वीकार नहीं किया। वह बात, जो साक्षात् उपदेशसिद्ध है, लिखकर व्यक्त करने का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? यह भी आकलनीय है कि अनेक बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश किसी भी अवस्था में नहीं कर सकते। प्रस्तुत ध्वनितत्त्व का उपदेश उन्होंने आदर के साथ किया है, सम्यगाम्नात किया है। यह भी उसके प्रामाणिक और आदरणीय होने का जबर्दस्त तर्क है।

१. मूल कारिका-ग्रन्थ 'तस्याभावं जगदुरपरे' के 'जगदुः' इस लिट् लकार के प्रयोग पर विचार करते हैं। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार 'लिट्' का प्रयोग भूतानद्यतनपरोक्ष के अर्थ में होता है, अर्थात् क्रिया के बहुत पहले परोक्ष भूतकाल में होने पर लिट् लकार प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत में, ध्वनि के अभाववाद का सिद्धान्त भी बहुत पहले भूतकाल में परोक्ष रूप से सम्भावित किया गया है, अतः आचार्य ने 'जगदुः' यह लिट् लकार का प्रयोग किया है (मैंने हिन्दी की प्रकृति में 'लिट्' लकार के कथञ्चित् अनुरूप प्रयोग 'जगदुः' के अनुवाद के रूप में 'कहा' लिखा है)। परोक्षत्व की पुष्टि के लिए सम्भावना के समर्थन में लोचनकार ध्वनिवादी आचार्य की ओर से लिखते हैं कि हमने ध्वनि के अभाव पक्ष को नहीं सुना है, इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि सर्वथा यह विकल्प कभी मौजूद ही नहीं था, ऐसी स्थिति में सम्भावना का आश्रय लेकर उन्हें उद्धृत किया गया है तथा उनमें दोष बताये गये हैं। इस प्रकार सम्भावित

लोचनम्

तद्व्याख्यानायैव सम्भाव्य दूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनाऽपि नेयमसम्भवतो युक्ता, अपि तु सम्भवत एव, अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसानं स्यात् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधापयिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं *सम्भवन्ती*त्याह। सम्भाव्यन्त इति तूच्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात्। न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपि तु वर्तमानतैव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः। ननु च सम्भवद्व स्तुमूलया सम्भावनया यत्सम्भावितं तद् दूषयितुमशक्यमित्याशङ्क्याह—*विकल्पा* इति। न तु वस्तु सम्भवति तादृक् यत इयं सम्भावना, अपि तु

उस (लिट्) के व्याख्यान के लिये ही (ग्रन्थकार) सम्भावना करके दोष प्रकट करेंगे। यह सम्भावना भी, जो सम्भव नहीं हो रहा है उसकी, नहीं बनती, अपितु सम्भव होते हुये की ही सम्भावना बनती है, अन्यथा[1] सम्भावनाओं का और दोषों का कभी अन्त ही न हो। अतः (ग्रन्थकार) आगे अभिहित कराई जाने वाली सम्भावना के समर्थन के लिये पहले 'सम्भव हो सकते हैं' यह कहते हैं। यदि 'सम्भावित होते हैं' ऐसा कहते तो पुनरुक्तार्थ ही[2] होता, सम्भव पदार्थ की सम्भावना नहीं होती, अपितु उसका वर्तमान होना ही स्पष्ट है, अतः वर्तमान से ही निर्देश किया है। सम्भव होते हुये वस्तुमूल वाली सम्भावना से जो सम्भावित है उसे दूषित करना शक्य नहीं है, यह आशङ्का करके कहते हैं—विकल्प—उस[3] प्रकार की वस्तु सम्भव नहीं है

होने के कारण ध्वनि के अभाव-विकल्प का परोक्ष होना उपपन्न हो जाता है। बुद्ध्यारोपित करके सम्भावना को भविष्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि बुद्ध्यारोपित वही विषय हो सकता है जो भूत में हो, न कि भविष्य में। स्वयं वृत्तिकार ने 'जगदुः' के स्थान पर आगे ही अभाववाद का उपन्यास करते हुए 'आचक्षीरन्' यह सम्भावनार्थक 'लिङ्' का प्रयोग किया है, साथ ही 'सम्भवन्ति' का भी प्रयोग करते हैं।

१. यदि यहाँ यही पक्ष स्वीकार्य हो जाय कि सम्भावना असम्भव की होती है तो सम्भावनाओं का कोई पर्यवसान या कोई हद नहीं मिलेगी। और दोषों की भी स्थिति वही होगी। इसलिए सम्भावना उसीकी होती है जो सम्भव होता है, यही सिद्धान्त पक्ष है। इसी कारण वृत्तिकार स्वयं 'सम्भवन्ति' शब्द से सम्भावना का अभिधान कर देते हैं, ताकि ऐसी कोई समस्या उपस्थित न हो।

२. वृत्तिकार 'हो सकते हैं' (सम्भवन्ति) कहकर आगे 'आचक्षीरन्' के पश्चात् वक्ष्यमाण सम्भावना का समर्थन करते हैं। तात्पर्य यह कि जो सम्भव है उसीकी सम्भावना हो सकती है, अर्थात् सम्भव सम्भावना का मूल या विषय होता है। ऐसी स्थिति में, यदि 'सम्भावित होते हैं' [सम्भाव्यन्ते] कह देते तो जो सम्भावना [आगे 'आचक्षीरन्' के रूप में] अभिहित होने वाली है वह यहीं उक्त हो जायगी और इस प्रकार पुनरुक्ति होगी। 'सम्भावित होते हैं' का स्पष्ट अर्थ है कि सम्भावना किये जाते हैं। दूसरे, इसके समर्थन में यह कहना भी गलत होगा कि 'सम्भव' की भी सम्भावना क्यों नहीं कर लेते हैं ? बल्कि उस सम्भव का वर्तमान होना ही स्पष्ट है, इसी कारण वृत्तिकार ने उसे वर्तमान रूप (लट् लकार-सम्भवन्ति) से निर्देश किया है।

३. ऊपर जब यह निर्णय हो गया कि सम्भावना सम्भव की ही होती है तब प्रस्तुत में यह आशङ्का होती है कि जो वस्तु सम्भव है उसमें दोष देना कहाँ तक उचित होगा, अर्थात् प्रस्तुत में,

लोचनम्

विकल्पा एव। ते च तत्त्वावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि, अत एव 'आचक्षीरन्' इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्प्रयोगा अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति। यथा—

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत्॥

इत्यत्र। यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति भूतप्राणतैव। यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववन्न भवनस्य सम्भावनेत्ययमेवार्थ इत्यलमप्रकृतेन बहुना। तत्र समयोपेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्वित्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः। तत्राभावविकल्पस्य

जिस कारण यह सम्भावना होगी अपितु विकल्प ही हैं। और, वे (विकल्प) तत्त्व के ज्ञान के न होने के कारण ही स्फुरित होते हैं, अतएव 'आचक्षीरन्' इत्यादि यहाँ सम्भावनाविषयक लिङ्ग के प्रयोग अतीतपरमार्थ[1] में पर्यवसित होते हैं। जैसे—

'यदि इस शरीर के जो भीतर है वह बाहर हो जाय तो यह संसार डंडा लेकर कुत्तों और कौओं को ही डुलाता रहे।'

इस स्थल में। यदि शरीर इस प्रकार दृष्टिगोचर होता तो ऐसा देखा जाता— इस प्रकार (यहाँ भी) अतीतपरमार्थता ही है। 'यदि न होता तो क्या होता' इस स्थल में भी; क्या होता यदि पहले की तरह (बाहर) नहीं होने की सम्भावना है (इस प्रकार निषेध पक्ष में भी) यही अर्थ है। बहुत अप्रकृत चर्चा व्यर्थ है। समय (संकेत) की अपेक्षा से शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है, इस कारण वाच्य से अतिरिक्त कोई व्यङ्ग्य नहीं है, होता हुआ भी वह अभिधावृत्ति से आक्षिप्त होकर, शब्द से अवगत अर्थ के बल से आकृष्ट होने के कारण भाक्त (गौण) है, वह आक्षिप्त न हुआ भी किसी प्रकार वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्वाँरियों के लिये पति के सुख के संबंध में कुछ कहना संभव नहीं, इस प्रकार तीन ही ये विप्रतिपत्ति के प्रधान

जब कि 'ध्वनि' के विरुद्ध पक्ष सम्भव हैं तब उनमें दोष दिखाना ठीक नहीं होगा, इस आशङ्का के उत्तर में वृत्तिकार 'विकल्प' शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसा कि लोचनकार कहते हैं: 'उस प्रकार की वस्तु सम्भव नहीं जिससे सम्भावना होगी, अपितु विकल्प ही (सम्भव) है' इसका तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत में जो वस्तु सम्भावना से सम्भावित है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं, बल्कि वह अभिप्रेत है जो तत्त्वज्ञान के अभाव में उभर आई है, अर्थात् 'विकल्प' रूप वस्तु यहाँ सम्भावना करके दूषणीय हैं और उन्हें ही यहाँ 'सम्भव' कहा गया है—वह तो दूषणीय हो ही सकती है।

१. 'जगदुः' का व्याख्यान 'आचक्षीरन्' इस लिङ् के प्रयोग से करने से प्रतीत होता है कि सम्भावना के रूप में बुद्ध्यारोपित रूप अतीत (भूत) के तात्पर्य में उन (लिङ् प्रयोगों) का पर्यवसान है। अर्थात् 'ऐसा कुछ लोगों ने कहा हो' ऐसी सम्भावना को बुद्धि में आरोपित करते हैं। इस प्रकार अतीत परमार्थ में लिङ्-प्रयोगों के पर्यवसान में इस विचार का लोचनकार एक उदाहरण देते हैं—यदि इस०—। यहाँ अतीतपरमार्थता इस कारण है कि शरीर के भीतरी भाग के बहिर्भाव को सम्भावना का विषय करके बुद्धि में आरोपित किया गया है और यह निर्विवाद ही

लोचनम्

अथः प्रकाराः—शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः, यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः, अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वाऽलङ्कारे वाऽन्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्।

अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि किंचिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्यो-

प्रकार हैं[1]। उनमें अभाव-विकल्प के तीन प्रकार हैं—शब्दगुण और अर्थगुण एवं शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों के ही शब्द और अर्थ के शोभाकारी होने से लोक और शास्त्र से अतिरिक्त शब्दार्थमय काव्य का शोभाहेतु कोई दूसरा नहीं है, जिसकी हमने गणना नहीं की है, यह (अभाव-विकल्प का) एक प्रकार है; और जिसकी (हमने) गणना नहीं की है वह शोभाकारी ही नहीं होगा, यह दूसरा (विकल्प) है; और वह शोभाकारी होता है तो हमारे कहे हुए ही गुण अथवा अलङ्कार में अन्तर्भूत हो जाता है। केवल दूसरा नाम बदल देने में यह कितना पाण्डित्य है !

माना कि उक्त गुणों अथवा अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं है, तथापि कुछ विशेष के लेशमात्र को आश्रयण करके नामान्तरकरण है; क्योंकि उपमा के ही वैचित्र्य-(विच्छित्ति–) प्रकार ही असंख्य हैं। तथापि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्तत्व (उस शोभाकारी तत्त्व का) नहीं बनता। और उतने मात्र से क्या होता है ! क्योंकि

है कि जो वस्तु बुद्ध्यारोपित कर ली जाती है उसमें अतीतत्व आ ही जाता है। लोचनकार इस प्रकार विधिरूप से अतीतपरमार्थत्व का निर्देश करके निषेधरूप से भी निर्देश करते हुए लिखते हैं—'यदि न होता तो भी क्या होता'; अर्थात् उस प्रकार शरीर के भीतरी भाग के बाहर होने की सम्भावना न होती तो भी क्या होता, तात्पर्य यह कि तथापि शरीर जुगुप्सा और घृणा का पात्र बना ही रहता। सर्वथा शरीर के प्रति आसक्ति के निषेध में इस पद्य का पार्यन्तिक तात्पर्य निहित है। इस प्रकार यहाँ विधि और निषेध दोनों प्रकारों से 'लिङ्' का अर्थ सम्भावना है।

'लिङ्' के सम्भावना रूप अर्थ का प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यह केवल लिट्प्रयोग का लिङ्प्रयोग से आचार्य द्वारा किए गए व्याख्यान के समर्थन में लोचनकार ने प्रपञ्चित किया है, अतः स्वयं यह कहते हुए विरत होते हैं कि बहुत अप्रस्तुत चर्चा व्यर्थ है।

१. यहाँ लोचनकार ने ध्वनि के सम्बन्ध में मूल कारिकाग्रन्थ में निर्दिष्ट तीन विकल्पों का संक्षेप में पहले इस प्रकार निर्देश किया है :—प्रथम अभाववादी विकल्प—इसके अनुसार 'ध्वनि' कोई तत्त्व नहीं; क्योंकि शब्द से उसी अर्थ का प्रतिपादन होता है जो संकेतित होता है, अर्थात् समय या संकेत के बल या सहकार से ही शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है और वह अर्थ 'वाच्य' कहलाता है। इसके अतिरिक्त जब शब्द का कोई अर्थ नहीं होता तब एक 'व्यङ्ग्य अर्थ' की कल्पना गलत पक्ष होगा। इस प्रकार सर्वथा 'ध्वनि' कोई तत्त्व नहीं। द्वितीय भाक्तवादी विकल्प—इसके अनुसार किसी प्रकार तथाकथित 'व्यङ्ग्य' अर्थ मान भी लिया जाय तो यह कहना होगा

लोचनम्

त्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे, तत्प्रपञ्चदिक्प्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा—'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते, तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पा इति तात्पर्यार्थः।

दूसरे वैचित्र्य की भी तो उत्प्रेक्षा हो सकती है? जैसा कि प्राचीन भरतमुनि प्रभृति आचार्यों ने यमक और उपमा को ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में माना है, उनके प्रपंच की दिशा का प्रदर्शन तो दूसरे अलङ्कारकारों ने किया। वह जैसे—'कर्मण्यण्' इस सूत्र में 'कुम्भकार' आदि उदाहरण को सुनकर स्वयं 'नगरकार' आदि शब्दों की उत्प्रेक्षा कर ली जाती है, केवल उतने से, कौन अपने में बहुत गौरव की बात है? इस प्रकार प्रस्तुत में भी; यह (अभाव-विकल्प का) तीसरा प्रकार' है। इस प्रकार एक विकल्प तीन प्रकार का और दूसरे दो विकल्प मिलकर पाँच विकल्प हैं, यह तात्पर्यार्थ है।

अभिधावृत्ति से आक्षिप्त ('बालप्रिया' टिप्पणी के अनुसार अभिधा की पुच्छभूत वृत्ति अर्थात् लक्षणा से आक्षिप्त) होता है। इस प्रकार शब्द से अवगत अर्थ के बल से आकृष्ट होने के कारण 'भाक्त' (या गौण) है। तृतीय अलक्षणीयतावादी विकल्प—किसी प्रकार ('तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से) उस व्यङ्ग्य अर्थ को लक्षणाशक्ति से आक्षिप्त न भी माना जाय, तथापि उसे शब्द से कहना सम्भव नहीं, वह उस प्रकार जैसे कुमारियों के लिए पति का सुख कहना सम्भव नहीं।

१. अब यहाँ अभाव-विकल्प के वृत्तिग्रन्थ में निर्दिष्ट तीन प्रकारों का संक्षेप में लोचनकार ने उपर्युक्त ढंग से निर्देश किया है। अभाव विकल्प के प्रथम प्रकार में यह कहा जाता है कि काव्यशरीर शब्दार्थमय होता है और गुण तथा अलंकार शब्द—और अर्थ के शोभाकारी तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किए गए हैं। इनके अतिरिक्त कोई ऐसा शोभाकारी तत्त्व ही नहीं सम्भव है जिसकी हमने गणना नहीं की है। अभाव विकल्प के दूसरे प्रकार में यह कहते हैं कि जिसकी हमने गणना नहीं की है वह किसी प्रकार शोभाकारी ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में, गुण और अलङ्कार के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की चर्चा करने का यहाँ कोई अर्थ ही नहीं निकलेगा। अभाव विकल्प के तृतीय प्रकार के अनुसार यदि ऐसा कोई शोभाकारी तत्त्व मान भी लिया जाय, तब भी उसका गुण तथा अलङ्कार में ही अन्तर्भाव हो जायगा, यदि लेशमात्र भिन्न कुछ विशेषता के कारण उक्त गुण तथा अलङ्कार में उस शोभाकारी तत्त्व का अन्तर्भाव न हुआ तो हम यह स्वीकार करेंगे उपमा आदि के असङ्ख्य विच्छित्ति-प्रकारों में यह भी होगा। फिर ऐसी स्थिति में कोई प्रश्न नहीं उठता जिसके समाधानार्थ किसी भिन्न ही शोभाकारी तत्त्व की कल्पना की जाय। यही क्या, बहुत से अन्य वैचित्र्यों की भी कल्पना की जा सकती है। जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिक आचार्यों ने किया भी है। सबसे प्राचीन भरत मुनि प्रभृति आचार्यों ने यमक और उपमा को ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार रूप से स्वीकार किया था, और फिर बाद में अन्य आलङ्कारिकों ने इस विषय को और भी प्रपञ्चित करके निर्दिष्ट किया। किसी ने अभी तक किसी भिन्न नये तत्त्व की उद्भावना का डिण्डिमघोष नहीं किया है, जैसा कि यहाँ 'ध्वनि' को लेकर किया जा रहा है। यह तो कुछ वैसी ही बात हुई कि किसी 'सूत्र' के निर्दिष्ट उदाहरण के आधार पर कोई दूसरा उदाहरण बना लिया गया (जैसे 'कुम्भकार' को देखकर नगरकार आदि)। इस

ध्वन्यालोकः

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

वहाँ कुछ लोग कहें—काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है, और, उसमें शब्दगत चारुत्वहेतु अनुप्रास आदि प्रसिद्ध ही हैं और अर्थगत उपमा आदि (प्रसिद्ध ही हैं)। और, वर्णसंघटनाधर्म जो माधुर्य आदि (गुण) हैं वे भी प्रतीत होते हैं। उन (अलंकार और गुणों) से अभिन्न रहने वाली वृत्तियाँ भी, जो किन्हीं के द्वारा उपनागरिका आदि (नामों से) प्रकाशित की गई हैं, वे भी सुनने में आई हैं और वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी (सुनने में आई हैं)। उनके अतिरिक्त कौन यह 'ध्वनि' नाम का (नया पदार्थ) है?

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—*शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना*। तावद्ग्रहणेन कस्याप्यत्र न विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद् ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण

उन्हीं (विकल्पों) को क्रम से कहते हैं—काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है इत्यादि द्वारा। (मूल-वृत्तिग्रन्थ में) 'तावत्' इस शब्द के ग्रहण से दिखाते हैं कि यहाँ किसी की भी विप्रतिपत्ति (विरुद्ध आशङ्का) नहीं[1] है। शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है, क्योंकि संज्ञामात्र[2] से क्या लाभ? यदि शब्द और अर्थ का चारुत्व ध्वनि है!;

मात्र से यह गौरव का अनुभव करना कि हमने नई कल्पना की, अत्यन्त उपहसनीय बात है। यहाँ लोचनकार ने 'विच्छित्ति' और 'वैचित्र्य' का प्रयोग किया है, ये शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं, अलङ्कारों का भेद-निर्णय विशेष रूप से विच्छित्ति या वैचित्र्य के आधार पर ही साहित्य-शास्त्र में किया गया है।

१. अर्थात् सभी लोग इस सिद्धान्त के पक्षपाती हैं कि शब्द और अर्थ ही काव्य के शरीर हैं लोचनकार का कहना है कि यह तात्पर्य वृत्तिग्रन्थ में प्रयुक्त 'तावत्' शब्द से प्रकट होता है। यह भिन्न बात है कि आगे चलकर किसी आचार्य ने विशिष्ट शब्द को ही काव्य माना है और किसी ने विशिष्ट अर्थ को। कुछ आचार्यों ने शब्द-अर्थ उभय को काव्य माना है। इस प्रकार काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतवादों के बावजूद भी, प्रायः काव्य के शरीर के रूप में शब्द और अर्थ को सभी ने स्वीकार किया है।

२. ध्वनि या व्यङ्ग्य तत्त्व का प्रतिपादन सर्वथा काव्य के आत्मा के रूप में अभीष्ट है अतः काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ तो किसी प्रकार 'ध्वनि' नहीं कहला सकते, क्योंकि यह पक्ष स्वयं ध्वनिवादी आचार्य के अपने सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। ऐसी स्थिति में भी यदि 'ध्वनि' के

लोचनम्

हि को गुणः ? अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वम्—स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः, संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्।

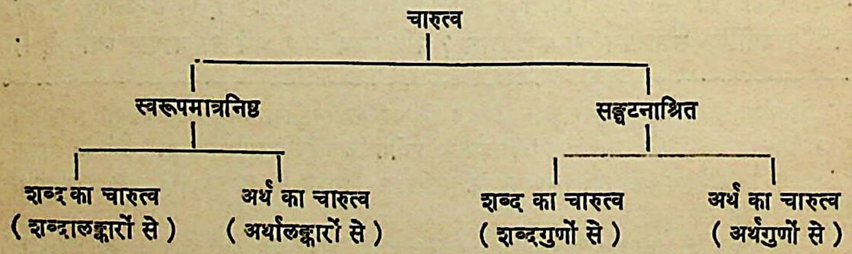
संघटनाधर्मा इति। शब्दार्थयोरिति शेषः। यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चा-

तथापि, चारुत्व[1] दो प्रकार का होता है—स्वरूपमात्रनिष्ठ और संघटनाश्रित। शब्दों का स्वरूपमात्रकृत चारुत्व शब्दालङ्कारों से और संघटनाश्रित (चारुत्व) शब्दगुणों से (होता है)। इस प्रकार अर्थों का स्वरूपमात्रनिष्ठ चारुत्व उपमादि (अर्थालङ्कारों) से और संघटना में पर्यवसित (चारुत्व) अर्थगुणों से (होता है), इस प्रकार गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त कोई ध्वनि नहीं है।

संघटनाधर्म—। 'शब्द और अर्थ के' यह शेष है। जो गुण और अलङ्कार से

सद्भाव के प्रति श्रद्धाजाड्य के कारण शब्द-अर्थ को ही 'ध्वनि' संज्ञा देते हों तो यह प्रयास भी व्यर्थ होगा, अर्थात् क्योंकि आत्मा को शरीर का रूप देकर कब तक आत्मा के सच्चे अस्तित्व का समर्थन किया जा सकता है ?

१. जब शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है तो शब्द-अर्थ का जिससे 'चारुत्व' हो वह (अर्थात् चारुत्व का हेतु) ध्वनि हो ही सकता है यह पक्ष अभ्युपगम करके अभाववादी का कहना है कि ऐसी स्थिति में चारुत्व-हेतु ध्वनि तत्त्व निर्दिष्ट शब्दालङ्कार-अर्थालङ्कार एवं शब्दगुण-अर्थगुण के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं सिद्ध होता, क्योंकि शब्द और अर्थ के चारुत्व का विभाजन दो ही भागों में किया जा सकता है एक तो स्वरूप के दृष्टिकोण से, दूसरा सङ्घटना के आधार पर। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—



[उपर्युक्त लोचन में जहाँ 'अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः' लिखा है वहाँ सामान्यतः अनुवाद यही होगा कि 'यदि शब्द और अर्थ का चारुत्व ध्वनि है !' परन्तु ऐसा ही समझ लेने पर यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि जब शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है तो शब्द-अर्थ का चारुत्व ध्वनि हो सकता है। इस भ्रम से गड़बड़ी यह होती है कि जब इस चारुत्व को यहाँ ध्वनि स्वीकार कर लेते हैं तब आगे चलकर अलङ्कार और गुण, जो स्वयं चारुत्व न होकर चारुत्व के हेतु हैं, उनमें अन्तर्भाव विशात चारुत्व रूप ध्वनि का करने लग जाते हैं। यह न तो मूल का अभीष्ट है न लोचनकार का। इस प्रकार इस भ्रम के निवारणार्थ, जैसा कि 'बालप्रिया' में भी लिखा है, 'लोचन' के उपर्युक्त वाक्य 'अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः' में 'यतश्चारुत्वम्, अर्थात् यश्चारुत्वहेतुः,

लोचनम्

रुत्वकारि न भवति, नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव। चारुत्वहेतुश्च ध्वनिः, तन्न तद्व्यतिरिक्त इति व्यतिरेकी हेतुः। ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च, तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्वहेतुश्च भविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभिप्रायेणाह—*तदनतिरिक्तवृत्तय* इति। नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः, वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति। यदाह—

व्यतिरिक्त है वह चारुत्वकारी नहीं है, जैसे असाधु और दुःश्रव आदि नित्य-अनित्य दोष। और, ध्वनि चारुत्व का हेतु है अतः वह उनसे व्यतिरिक्त नहीं, यह व्यतिरेकी हेतु[1] है। शङ्का करते हैं कि वृत्तियाँ और रीतियाँ जैसे गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त हैं और साथ ही चारुत्व के हेतु हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त और चारुत्व का हेतु होगा। इस प्रकार व्यतिरेक असिद्ध है, इस अभिप्राय से कहते हैं—उनसे अभिन्न रहने वाली—। वृत्तियों और रीतियों का उनसे व्यतिरिक्तत्व सिद्ध[2] नहीं है। जैसा कि अनुप्रासों के ही दीप्त, मसृण और मध्यम वर्णनीयों की उपयोगिता के अनुसार परुषत्व, ललितत्व और मध्यमत्व! स्वरूप के विवेचन के लिए तीन वर्गों के सम्पादनार्थ तीन अनुप्रास[3]-जातियां 'वृत्तियां' कही गई हैं, अर्थात् 'वर्तमान हैं अनुप्रास के भेद इनमें'। क्योंकि कहते हैं—

स ध्वनिः' इतना बढ़ाकर पहले ही संगतार्थ कर लेना चाहिए। इस प्रकार चारुत्व-हेतु रूप ध्वनि का चारुत्व-हेतु रूप गुण तथा अलङ्कारों में अन्तर्भाव बन जाता है, जो अभाववादी का पक्ष है]।

१. अभाववादी अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' का यहाँ प्रयोग करता है। अनुमान के प्रसङ्ग में तीन प्रकार के लिङ्ग या हेतु न्यायशास्त्र में बताये गये हैं—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी। जहाँ केवल व्यतिरेक से व्याप्तिग्रह होता है वह केवलव्यतिरेकी हेतु होता है। जैसे, 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्' यहाँ कहा जायगा—'यद् इतरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्, यथा जलम्।' इस प्रकार यहाँ व्यतिरेकदृष्टान्त जल होता है। 'यद् गन्धवत् तदितरभिन्नम्' यहाँ अन्वयदृष्टान्त नहीं प्राप्त हो सकता। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होगा, जैसा कि मेरे पूज्यपाद गुरुजी (पं० महादेव शास्त्रीजी) ने अपनी 'दिव्याञ्जना' टिप्पणी में निर्देश किया है—'ध्वनिः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाववान्, चारुत्वहेतुत्वात्, यो हि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो भवति स चारुत्वहेतुर्न भवति, यथा असाधुत्वदुःश्रवत्वादिको दोषः।'

२. जैसा कि व्यतिरेक बताया गया कि ऐसा कोई चारुत्व का हेतु नहीं जो गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है इसके विरुद्ध यह शङ्का है कि उपनागरिका प्रभृति वृत्तियाँ और वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ तो अवश्य हैं जो गुण एवं अलङ्कार से भिन्न हैं एवं चारुत्व-हेतु हैं। इस परिस्थिति में उपर्युक्त व्यतिरेक कहाँ सिद्ध होता है? इस आशङ्का के निवारणार्थ कहते हैं वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण एवं अलङ्कार से भिन्न नहीं हैं। वह कैसे? इसे स्वयं लोचनकार आगे की पंक्तियों में स्पष्ट करते हैं।

३. जैसा कि मूल वृत्तिग्रन्थ में वृत्तियों एवं रीतियों को अलङ्कार एवं गुण से अनतिरिक्तवृत्ति

लोचनम्

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ इति ॥

पृथक्पृथगिति । परुषानुप्रासा नागरिका । मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता । नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा । मध्यममकोमलपरुषमित्यर्थः । अत एव वैदग्ध्यविहीनस्वभावासुकुमारापरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं

'इन तीन वृत्तियों में सजातीय (समानरूप) व्यञ्जनों के उपनिबन्ध (के रूप में) पृथक् पृथक् अनुप्रास को सदा कवि लोग चाहते हैं ।'

पृथक् पृथक्— । परुष[1] अनुप्रास वाली (वृत्ति) नागरिका है, मसृण अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका या ललिता है। नागरिका या विदग्धा से उपमित, यह करके । मध्यम अर्थात् अकोमल एवं अपरुष । अत एव वैदग्ध्य से विहीन स्वभाव वाली होने के कारण असुकुमार एवं अपरुष ग्राम्य वनिता के सादृश्य से यह (तृतीया वृत्ति)

अर्थात् इन्हें छोड़कर न टिकने वाली बताया है, उन्हीं में पहले यह सिद्ध करते हैं कि किस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास अलङ्कार की आश्रयभूत जातियाँ हैं। वर्णनीय या वर्णन के विषय अपने स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं—दीप्त (तीव्रता या तीखापन लिए हुए, रौद्र आदि रस में), मसृण (अर्थात् मधुर, जैसे शृङ्गार आदि रस में), मध्यम (दोनों निर्दिष्ट स्वभाव के बीच के स्वभाव का वर्णनीय, जैसे हास्य आदि रस में)। इस प्रकार दीप्त के परुषत्व स्वरूप, मधुर के ललितत्व-स्वरूप एवं मध्यम के मध्यमत्व-स्वरूप के विवेचन के लिए अनुप्रास की तीन जातियाँ बताई गई हैं। इस प्रकार अनुप्रास इन वृत्तियों का आधारित अलङ्कार हैं। इसी कारण 'अनुप्रास' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा आसु' अर्थात् वर्तमान हैं अनुप्रास के भेद इनमें। इस तथ्य को लोचनकार ने आचार्य उद्भट के 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह' से वचन (१. ८) उद्धृत करके प्रमाणित किया है। आचार्य उद्भट के अनुसार अनुप्रास में वृत्तियों के अनुसार सजातीय (समानरूप) व्यञ्जनों का उपनिबन्धन पृथक्-पृथक् रूप से कवियों का अभिप्रेत होता है, अर्थात् कवि लोग वर्णनीय वस्तु के स्वभाव के अनुसार शब्दचयन करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रसङ्ग में आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ में तीन वृत्तियों में किस-किस प्रकार के सजातीय व्यञ्जन प्रयुक्त होते हैं, इसका निर्देश किया है—

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता । परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता ॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः । स्पर्शैर्युतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः ॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया । ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥
(१. ५-७)

इसके अनुसार वृत्तियों में निम्न प्रकार के व्यञ्जनों का प्रयोग होता है—

परुषा—श, ष, रेफ के संयोग, टवर्ग, ह्ल, ह्व, ह्य आदि ।

उपनागरिका—समानरूप वर्णों के संयोग, वर्ग के अन्त्य अक्षर से शिरोभाग में युक्त स्पर्श वर्ण (क से लेकर म तक के वर्ण)।

कोमला अथवा **ग्राम्या**—यथायोग शेष वर्ण ।

१. निर्दिष्ट तीन प्रकार की वृत्तियों के नामकरण की सार्थकता का निर्देश करते हैं। वह वृत्ति 'नागरिका' कहलाती है जो परुष वर्णों से आरब्ध होने के कारण परुष अनुप्रास से युक्त होती है। 'परुषा' वृत्ति ही 'नागरिका' कहलाती है। मसृण या स्निग्ध वर्णों के अनुप्रास वाली वृत्ति 'उपनागरिका' कहलाती है। इसे 'ललिता' भी कहते हैं। 'उपमिता नागरिकया उपनागरिका' इस

लोचनम्

वृत्तिर्ग्राम्येति। तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव। न चेह वैशेषिकवद् वृत्तिर्विवक्षिता, येन जातौ जातिमतो वर्तमानत्वं न स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र वर्तमानत्वम्। यथाह कश्चित्—

लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः। इति।

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः। अत एव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः। अनतिरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः।

ग्राम्या है। वहाँ, तीसरा कोमलानुप्रास है। इस प्रकार वृत्तियां अनुप्रास की जातियां ही हैं। यहां[1] वैशेषिक मत की भाँति वृत्ति (वर्तन, आधेयत्वरूप) विवक्षित नहीं है, जिससे जाति में जातिमान् का वर्तमानत्व न होगा, बल्कि उस (वृत्ति रूप जाति) द्वारा अनुग्रह ही वहां वर्तमानत्व है। जैसा किसी ने कहा है—

'लोकोत्तर गाम्भीर्य में राजा लोग रहते हैं'।

इसलिए वृत्तियां अनुप्रासादि से अतिरिक्त होकर रहने वाली नहीं हैं एवं अधिक व्यापार वाली नहीं हैं। अत एव व्यापार के भेद के न होने के कारण पृथक् अनुमेय स्वरूप नहीं हैं, यह 'व्यापार' के वाची 'वृत्ति' शब्द का अभिप्राय है। अतिरिक्त न होने के कारण ही भामह आदि आचार्यों ने वृत्ति का व्यवहार नहीं किया। उद्भट आदि

प्रकार इसकी संज्ञा अन्वर्थ है। 'मध्यमा' नाम की तृतीया वृत्ति 'ग्राम्या' इसलिए कहलाती है कि ग्राम्य वनिता की भांति यह भी वैदग्ध्य-विहीन होती है, इसमें न तो सुकुमारता होती है और न परुषता ही। भट्ट उद्भट के अनुसार ग्राम्या वृत्ति की कोमल-संज्ञा भी है जो रूढ है।

१. जैसा कि पहले ही से यह कहते आ रहे हैं कि वृत्तियाँ अनुप्रास की जातियाँ हैं और वृत्तियों के लक्षण में वृत्तियों को अनुप्रासों का आश्रय बनाया है; जैसे, जो वृत्ति परुष अनुप्रास को रखती है अर्थात् उसका आश्रयभूत है वह परुषा या नागरिका कहलाती है आदि और 'वर्तमान' हैं अनुप्रास के भेद इनमें' यह भी 'वृत्ति' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है। ऐसी स्थिति में, वैशेषिक-मत, जो जाति में जातिमान् का वर्तमानत्व नहीं स्वीकार करता, से स्पष्ट विरोध होता है (क्यों कि वृत्ति रूप जाति में जातिमान् अनुप्रास का वर्तमानत्व उपपन्न नहीं है)। इस पर लोचनकार लिखते हैं कि प्रस्तुत में वृत्ति या आधेयत्व रूप वर्तन वैशेषिकमतानुसार विवक्षित ही नहीं है बल्कि वहाँ वर्तमानत्ववृत्तिरूप-जातिकर्तृक अनुग्रह ही है। वृत्तियों को 'जाति' इसी लिए कहा है कि वे गवादि से गोत्वादि जातियों की भाँति परुषत्वादि-विशिष्ट अनुप्रासों से अभिव्यक्त होती हैं।

'वृत्ति रूप जाति के द्वारा अनुग्रह' का स्पष्टीकरण यह है कि वृत्तियों के कारण ही अनुप्रास में परुषत्वादिभेदक धर्म एवं रसाभिव्यञ्जन की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। इस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रासों के प्राणभूत तत्त्व हैं, अतः वे अनुप्रास की जातियाँ करके मानी गई हैं। यह अनुग्रह उसी प्रकार का है जैसे, 'लोकोत्तर गाम्भीर्य में राजाओं का वर्तमान होना' है। यहाँ गाम्भीर्यकर्तृक अनुग्रह है, बिना 'गाम्भीर्य' के राजा लोग कोई काम नहीं कर सकते। 'गाम्भीर्य' वह भाव है, जिसके प्रभाव से कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। इस प्रकार पार्यन्तिक वक्तव्य यह है कि जो रसाभिव्यञ्जनविषयक व्यापार अनुप्रास आदि का है वही वृत्तियों का है। ऐसी स्थिति में वृत्तियों का पृथक् रूप से पूर्वोक्त अनुमान सिद्ध नहीं होता है।

लोचनम्

उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह—*गताः श्रवणगोचरमिति । रीतयश्चेति ।* तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः । तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम् । जातिर्जातिमतो नान्या, समुदायश्च समुदायिनो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित

आचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक अर्थ हृदयपथ पर अवतीर्ण नहीं होता, इस अभिप्राय से कहते हैं—सुनने में आई हैं—। और रीतियाँ—। उससे अतिरिक्त होकर न रहने वाली (रीतियाँ) भी सुनने में आई हैं, यह सम्बन्ध है। यहाँ 'उस' (तत्) शब्द से माधुर्यादि गुण अभिप्रेत हैं; और उन[1] (माधुर्यादि गुणों) का समुचित वृत्ति में अर्पण होने पर, जो परस्पर मिलाने की क्षमता होने के कारण, पानक रस की भाँति, गुड़, मरिचादि रसों का संघात (मिलित) रूप में आना है, दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषय रूप, गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल देश के स्वभाव (हेवाक) की प्रचुरता की दृष्टि से वही त्रिविध होकर 'रीति' कहा गया है। जाति जातिमान् से अन्य नहीं है और समुदाय समुदायी से अन्य नहीं है; इस प्रकार वृत्ति-रीतियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं हैं; इस लिए वह व्यतिरेकी[2] हेतु तदवस्थ ही रहा।

---

१. जिस प्रकार ऊपर वृत्तियों की गतार्थता अनुप्रासों से बताई गई, उसी प्रकार अब रीतियों की गतार्थता को माधुर्य आदि गुणों से अभिहित करते हैं। आचार्य वामन, जो रीति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं, के अनुसार 'विशिष्ट पदरचना' ही 'रीति' है, यहाँ 'वैशिष्ट्य' गुणों के द्वारा आहित होता है (विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा—वामन) इसी 'रीति' को लोचनकार ने 'समुचित वृत्ति में गुणों का अर्पण अर्थात् संघातरूपतागमन' कहा है और गुड-मरिचादि के रसों का संघात होने पर पानक रस का उदाहरण दिया है। 'समुचित वृत्ति' से तात्पर्य है दीप्त आदि वर्णनीय के औचित्य से युक्त वर्णरचना' (जैसा कि 'बालप्रिया' में निर्देश है)। ऐसी वर्णरचना में 'गुण' आकर 'रीति' का रूप धारण कर लेते हैं। प्राचीन आचार्यों ने दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषयों के अनुसार 'रीति' के गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल, ये तीन दैशिक भेद किए हैं। माधुर्य आदि गुण समुचित वर्णरचना के साथ संहत या समूहताप्राप्त हो जाते हैं तब उनकी स्थिति 'रीति' के रूप में हो जाती है। इस प्रकार यह भी निश्चय हुआ कि रीतियाँ गुणों से व्यतिरिक्त तत्त्व नहीं हैं।

२. व्यतिरेकी हेतु—पहले जो यह कह चुके हैं कि निर्दिष्ट गुण और अलङ्कारों के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं जो चारुत्वहेतु हैं, इसी प्रसंग में चारुत्वहेतु के रूप में प्राप्त वृत्ति और रीति की गतार्थता अलङ्कार और गुण में बताई गई। इस प्रकार 'ध्वनिः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाववान्, चारुत्वहेतुत्वात्, यो हि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो भवति स चारुत्वहेतुर्न भवति' यह केवलव्यतिरेकी हेतु अपने रूप में अखण्डित रहा। और फिर वह बात अभाव वादी पक्ष के अनुसार फिर सामने आई कि आखिर यह 'ध्वनि' क्या है ?

ध्वन्यालोकः

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

अन्य लोग कहें—नहीं है ध्वनि, क्योंकि प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त काव्य के प्रकार (भेद) में काव्यत्व की हानि है। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्व ही काव्य का लक्षण है। उक्त प्रस्थानों से अतिरिक्त मार्ग का वह सम्भव नहीं है। और उस सम्प्रदाय के (मानने वालों के) अन्तर्गत ही कुछ सहृदयों को तैयार करके उनके द्वारा प्रसिद्ध कर दिए जाने से ध्वनि में काव्य का व्यवहार प्रवृत्त किया भी जाय तब भी सभी विद्वानों का मनोग्राही नहीं हो सकता।

लोचनम्

एवासौ व्यतिरेकी हेतुः। तदाह—*तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति*। नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात्। नापि चारुत्वहेतुः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति। तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते, तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति *नामशब्देनाह*।

ननु मा भूदसौ शब्दार्थस्वभावः, मा च भूत्तच्चारुत्वहेतुः, तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह—*अन्य* इति।

उसे कहते हैं—उनसे व्यतिरिक्त कौन यह अतिरिक्त ध्वनि नाम[1] का (नया) पदार्थ है ? —। यह (ध्वनि) चारुत्व का स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि न तो यह शब्द रूप है और न अर्थरूप। और यह चारुत्व का हेतु भी नहीं है, क्योंकि यह गुण तथा अलङ्कार से व्यतिरक्त है (उनकी सीमा में नहीं आता)। इसलिए अखण्ड बुद्धि द्वारा समास्वादन के योग्य भी काव्य का विभाग (-अपोद्धार) बुद्धि से यदि विभाग (खण्ड) करते हैं तथापि यहां 'ध्वनि' शब्द का वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ उपलब्ध नहीं होता, वह (वृत्ति ग्रन्थ में) 'नाम' शब्द से कहा है।

यह (ध्वनि) शब्द-अर्थ के स्वभाव का न हो और चारुत्व का हेतु भी न हो,

१. कोऽयं ध्वनिर्नामेति—यह पंक्ति अभाववाद के प्रथम विकल्प का निर्णीतार्थ व्यक्त करती है। इस पक्ष में ध्वनि को चारुत्व का स्थान या चारुत्व का हेतु मान कर ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार करने की बात उठी थी, परन्तु इसके विरुद्ध इस पक्ष ने सबल तर्क यह उपस्थित किया कि ध्वनि चारुत्व-स्थान तभी हो सकता था-जब कि यह शब्द रूप या अर्थ रूप होता और दूसरे, यह चारुत्वहेतु भी तभी हो सकता था जब कि गुण अथवा अलङ्कार से व्यतिरिक्त होता। न तो यह शब्दार्थ रूप है और न तो यह गुणालङ्कार व्यतिरिक्त है, इस कारण यह स्पष्ट है कि 'ध्वनि' कोई पदार्थ या तत्त्व नहीं। इतना तात्पर्य उपर्युक्त 'किं' शब्द से द्योतित होता है।

लोचनम्

भवत्वेवम्; तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्तव लिलक्षयिषितः। काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ नृत्तगीतवाद्यादिस्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम्। न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते।

प्रसिद्धेति। प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम्। *काव्यप्रकारस्येति*। काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः, 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात्। ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—*सहृदयेति*। *मार्गस्येति*। नृत्तगीताक्षिनिकोचनादिप्रायस्येत्यर्थः। *तदिति*। सहृदयेत्यादिकाव्यलक्षणमित्यर्थः। ननु ये तादृशमपूर्वं

इससे वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त तो होगा! यह आशङ्का करके अभाव-वाद के दूसरे प्रकार[1] को कहते हैं—अन्य—। हो ऐसा; तथापि जैसा कि तुम्हें लक्षणयुक्त बनाना अभिलषित है वैसा ध्वनि तो है ही नहीं (क्योंकि) वह (ध्वनि) काव्य का कोई कहा जायगा। और, वह नृत्त, गीत, वाद्य आदि स्थानीय कुछ तो नहीं है! कवनीय काव्य होता है, उसका भाव काव्यत्व है। नृत्त, गीत आदि 'कवनीय' नहीं कहे जाते।

प्रसिद्ध—। प्रसिद्ध प्रस्थान, अर्थात् शब्द और अर्थ एवं उनके गुण और अलङ्कार। प्रतिष्ठित होते हैं, परम्परा से जिस मार्ग से व्यवहार करते हैं वह 'प्रस्थान' है। काव्य के प्रकार में—। काव्य के प्रकार के रूप में वह मार्ग तुम्हें अभिप्रेत है, क्योंकि 'काव्य का आत्मा' यह कहा है। शङ्का है कि कैसे वह काव्य नहीं हो सकता, इस पर कहते हैं—सहृदय०—। मार्ग का—। अर्थात् नृत्त, गीत, आँखों का मींचना आदि के सदृश (मार्ग का)। वह—। अर्थात् सहृदय० इत्यादि काव्य का लक्षण। जो उस

अब लोचनकार ने मूल वृत्तिग्रन्थ के 'नाम' शब्द का तात्पर्य इस प्रकार निकाला है—ध्वनि तत्त्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, अगत्या अखण्ड बुद्धि द्वारा समास्वाद्य भी काव्य को अपोद्धार या विभाग की बुद्धि से विभक्त करते हैं तब भी 'ध्वनि' शब्द का वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में ध्वनि का अभाव ही मानना चाहिए।

१. अभाववाद के प्रथम विकल्प में यही निर्णय हुआ कि ध्वनि न तो शब्द अथवा अर्थ के रूप में माना जा सकता और न तो चारुत्व के हेतु के रूप में स्वीकार किया जा सकता, इस लिए ध्वनि है ही नहीं। इस पर प्रतिपक्षी की ओर से यह शङ्का होती है कि क्यों न ध्वनि को गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त कोई तत्त्व स्वीकार किया जाय। इस पर अभाववाद के दूसरे विकल्प में जोर देकर यह खण्डन उपस्थित किया गया है कि माना कि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त ही कोई ध्वनि है, लेकिन ऐसे 'ध्वनि' को मानने से लाभ क्या होगा? क्यों कि 'ध्वनि' को काव्य का ही तत्त्व होना चाहिए, वही प्रस्तुत में लक्षणीय हो सकता है। और जब काव्य के रूप शब्द-अर्थ और चारुत्वहेतु गुण और अलङ्कार से ध्वनि को पृथक् कर देते हैं तब तो निश्चय ही ध्वनि काव्य का कोई तत्त्व नहीं हो सकता, नृत्त, गीत, वाद्य आदि के समान ही कोई तत्त्व हो सकता है जिसका काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं। काव्य 'कवनीय' (कवि के प्रयत्न का साध्य) होता है और नृत्त-गीतादि कवनीय नहीं, उसी प्रकार ध्वनि की स्थिति है।

लोचनम्

काव्यरूपतया जानन्ति, त एव सहृदयाः । तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति । यथा हि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्राव्रियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुकुमारश्चित्रतन्तुविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेदकः सुच्छेद्य उत्कृष्टः खड्ग इति ब्रुवाणः, परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्ययुक्ततया पर्यनुयुज्यमान एवं ब्रूयात्—ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत् । प्रसिद्धं हि लक्ष्यं भवति न कल्पितमिति भावः । तदाह—*सकलविद्वदिति* । विद्वांसोऽपि हि तत्समयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति । एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृतं स्यादुन्मत्तता परं प्रकटितेति भावः ।

यस्त्वत्राभिप्रायं व्याचष्टे—जीवितभूतो ध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तत्वात्तच्च न काव्यमिति लोके

प्रकार के अपूर्व को काव्य के रूप से जानते हैं, वे ही—'सहृदय' हैं और उन (सहृदयों) का जो अभिमत है वह काव्यलक्षण कहे हुए प्रस्थानों के अतिरिक्त का ही होगा, यह आशङ्का करके कहते हैं—उस ध्वनि—। क्योंकि जैसे, 'खड्ग का लक्षण करता हूँ' यह कह कर, 'आतान-वितान के स्वभाव वाला, प्रावरण किया जाता हुआ, सकल शरीर को ढँक देने वाला, सुकुमार, रंग-बिरंगे तन्तुओं से बना हुआ, संकोच और विकास को सह लेने वाला, सुख से छेदन के योग्य उत्कृष्ट खड्ग है' यह कहता हुआ, दूसरों के द्वारा 'ऐसा तो कपड़ा होता है खड्ग नहीं' इस प्रकार अयुक्त होने के कारण, पूछा गया (वह व्यक्ति) इस प्रकार कहे ऐसा ही खड्ग मेरा अभिमत है उसी तरह का यह है । भाव यह कि लक्ष्य प्रसिद्ध होता है, कल्पित नहीं । उसे कहते हैं—सकल विद्वानों के—। विद्वान् भी उस (ध्वनि) के समय (सङ्केत) के जानने वाले ही होंगे, इस शङ्का को 'सकल' शब्द से (वृत्तिकार) निराकरण करते हैं । मतलब यह कि ऐसा करने पर भी कुछ नहीं किया, केवल पागलपन[1] ही प्रकट किया ।

जो व्यक्ति यह (इस) अभिप्राय की व्याख्या[2] करता है—'तुम्हारा अभिमत है कि ध्वनि (काव्य का) जीवितभूत (अनुप्राणक) तत्त्व है और जीवित रूप (ध्वनि) प्रसिद्ध प्रस्थानों से अतिरिक्त है और इसे आलङ्कारिकों ने नहीं कहा है अतः वह

१. ध्वन्यभाववादी का दूसरा विकल्प संक्षेप में यह है कि ध्वनि चूंकि परम्परा से व्यवहृत मार्गों में नहीं आता, अतः काव्य के आत्मा या प्रकार के रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता । दूसरे 'सहृदयाह्लादकारिशब्दार्थमयत्व' रूप काव्य-लक्षण उसमें संघटित भी नहीं होता । अगर कुछ सहृदय एकवाक्य होकर ध्वनि को हृदयाह्लादी मान कर 'काव्य' नाम दे भी दें तब भी यह सकल विद्वज्जन-मनोग्राह्य तत्त्व नहीं हो सकता । इस प्रकार ध्वनि के सम्बन्ध में यह सब कुछ 'पागलपन' के अतिरिक्त कुछ नहीं ।

२. लोचनकार ने द्वितीय अभाववादी के अभिप्राय को कुछ भिन्न रीति से बताने वाले का यह खण्डन किया है । उसके अनुसार अभिप्राय यह है कि पहले आलङ्कारिकों ने ध्वनि को आत्मा या जीवित रूप में स्वीकार नहीं किया है और यह 'जीवित'भूत ध्वनि तत्त्व प्रसिद्ध प्रस्थानों से

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् ।

फिर अन्य लोग उस (ध्वनि) का अभाव अन्य प्रकार से कहें—'ध्वनि नाम का कोई अपूर्व सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि वह कामनीयक का अतिवर्तन नहीं करता, (इसलिए) उसका कहे गए चारुत्व के हेतुओं में ही अन्तर्भाव है । अथवा उन्हीं में से एक की अपूर्व समाख्या (नामकरण) की जाय तो जो-कुछ (तुच्छ) कथन होगा ।

लोचनम्

प्रसिद्धमिति । तस्येदं सर्वं स्ववचनविरुद्धम् । यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति । तस्मात्प्राक्तन एवात्राभिप्रायः ।

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च, तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयमभाववादमुपन्यस्यति–*पुनरपर इति* । *कामनीयकमिति* कमनीयस्य कर्म । चारुत्वधीहेतुतेति यावत् ।

(जीवितभूत ध्वनि) काव्य नहीं है, 'लोक में प्रसिद्ध है ।' यह सब कथन उस (व्यक्ति) के अपने ही कथन के विरुद्ध ठहरता है, क्योंकि यदि उस पूर्वपक्षवादी ने यह स्वीकार कर लिया कि (ध्वनि) काव्य का अनुप्राणक (जीवितभूत) है तो प्राचीनों द्वारा उक्त न होने के कारण प्रत्युत वह लक्षणार्ह ही होगा । इस लिए पहला ही यहाँ अभिप्राय (ठीक) है ।

माना कि वह (ध्वनि चारुत्व का हेतु है और शब्द-अर्थ के गुण और अलङ्कारों के अन्तर्भूत (भी) है; तथापि 'ध्वनि' इस भाषा के द्वारा (अर्थात् यह कहकर) 'जीवित' ऐसा वह किसी के द्वारा नहीं कहा गया है इस अभिप्राय की आशङ्का करके तीसरे

अतिरिक्त है । अतः यह काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता । इसे अभाववादी के अनुसार लोक में प्रसिद्ध होना चाहिए, जैसे शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार लोक में प्रसिद्ध हैं ।

लोचनकार का कहना है कि इस व्याख्याकार का यह सब कथन 'स्ववचनविरुद्ध' है । क्योंकि, जबकि यह स्वयं पूर्वपक्षवादी (ध्वन्यभाववादी) ने स्वीकार कर लिया कि ध्वनि काव्य का जीवित या अनुप्राणक तत्त्व है तब तो उसे 'काव्य' होना ही चाहिए । उसे इस कारण न मानना कि प्राचीन किसी आलङ्कारिक ने उसे नहीं कहा है, यह कहाँ की दलील है । बल्कि, वह तो सर्वथा 'लक्षणार्ह' अर्थात् लक्ष बनाने के योग्य (लक्षयितव्य) है । अतः उपर्युक्त व्याख्यान स्वीकार्य नहीं । पूर्व व्याख्यान ही द्वितीय अभाववादी के अभिप्राय को ठीक व्यक्त करता है ।

ध्वन्यालोकः

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्य-लक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेत-दलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

और भी, वाग्विकल्पों के अनन्त होने के कारण प्रसिद्ध काव्य-लक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित किसी प्रकार लेश के सम्भव होने पर भी, 'ध्वनि-ध्वनि' यह जो, सहृदयता की भावना से आंखें मूंद कर (ध्वनिवादी) नाच रहे हैं उसमें हेतु हम नहीं जानते। अन्य महात्माओं (विद्वानों) ने हजारों अलङ्कारों के भेद बताए हैं और बताते हैं उनको यह स्थिति नहीं सुनाई पड़ती। अतः ध्वनि प्रवादमात्र है। इसका कुछ भी विचारयोग्य तत्त्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। जैसा कि अन्य ने यहाँ श्लोक बनाया ही है—

लोचनम्

ननु विच्छित्तीनामसंख्यत्वात्काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा, या नानुप्रासादौ, नापि माधुर्यादावुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युपगमपूर्वकं परिहरति—*वाग्विकल्पानामिति*। वक्तीति वाक् शब्दः। उच्यत इति वागर्थः। अभाववाद का उपन्यास करते हैं—फिर अन्य लोग—। 'कामनीयक'[1] अर्थात् कमनीय का कर्म, मतलब कि चारुत्व बुद्धि का हेतुत्व।

विच्छित्तियों (वैचित्र्यों) के असंख्य होने के कारण कोई उस प्रकार की विच्छित्ति हमने देखी है जो न अनुप्रास आदि अलङ्कारों में और न माधुर्य आदि गुणों में, जैसा कि उसके लक्षण कहे गए हैं, अन्तर्भूत हो, यह आशङ्का करके अभ्युपगमपूर्वक (इसे स्वीकार

१. तृतीय अभाववाद के अवतरण में लोचनकार का कहना है कि ध्वनिवादी का यहाँ यह पक्ष होगा कि ध्वनि को चारुत्व का हेतु मान कर गुण और अलङ्कार के अन्तर्भूत मान लेते हैं, किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि अब तक किसी ने 'ध्वनि' का नाम लेकर उसे 'काव्य का जीवित' (काव्यस्यात्मा) बनाने का प्रयास किया हो अतः यह एक अभूतपूर्व बात है, इस प्रकार ध्वनि को स्वीकार करना चाहिए।

इस पर अभाववाद के पक्ष से यह कहना है कि किसी प्रकार ध्वनि उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता जिसमें कमनीयता या चारुता को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् ध्वनि चारुत्वहेतु ही अन्ततः सिद्ध होकर रह जाता है। ऐसी स्थिति में उन्हीं चारुत्वहेतुओं में अन्तर्भूत एक तत्त्व को

लोचनम्

उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः। तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः। *प्रकारलेश इति*। स हि चारुत्वहेतुर्गुणो वालङ्कारो वा। स च सामान्यलक्षणेन संगृहीत एव। यदाहुः—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति। तथा 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः' इति। *ध्वनिर्ध्वनिरिति* वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्नादरं दर्शयति—*नृत्यत इति*। तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणोद्भूतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तृभिरिति शेषः। ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः। *एषा दशेति*। स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः। *वाग्विकल्पाः* वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारप्रकारा इति वा। *तस्मात्प्रवादमात्रमिति*। सर्वेषामभाववादिनां साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो

करते हुए) परिहार[1] करते हैं—वाग्विकल्पों के—। ('वाक्' की तीन व्युत्पत्तियों के अनुसार) 'वक्तीति वाक्', जिसे कहता है वह वाक्, अर्थात् शब्द, 'उच्यत इति वाक्' जो कहा जाता है, अर्थात् अर्थ और 'उच्यतेऽनया', जिससे कहा जाता है अर्थात् अभिधा व्यापार (ये तीन अर्थ गृहीत होते हैं)। उनमें शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार अनन्त है। अभिधा के वैचित्र्य प्रकारों की भी कोई संख्या नहीं। प्रकारलेश—। वह चारुत्व का हेतु गुण हो अथवा अलङ्कार हो, वह सामान्य लक्षण के द्वारा संगृहीत ही (हो जायगा)। जैसा कि (वामन) कहते हैं—'काव्य के शोभाकारी धर्म गुण हैं, और उस (काव्य की शोभा) के अतिशयकारी हेतु अलङ्कार हैं'। तथा 'वक्र (विचित्र) अभिधेय (अर्थ) और शब्द की उक्ति वाणियों की अलङ्कृति है।' 'ध्वनि-ध्वनि' इस दो बार (वीप्सा) के कथन से (ध्वनिवादियों का) सम्भ्रम (हड़बड़ी) सूचित करते हुए (उनका ध्वनि में) आदर दर्शाते हैं—नाचते हैं—। शेष यह कि (ध्वनि) का लक्षण करने वाले; उससे युक्त काव्य का निर्माण करने वाले; उसके सुनने मात्र से उत्पन्न चमत्कार वाले प्रतिपत्तृजन। भाव यह कि 'ध्वनि' इस शब्द मात्र में आदर का क्या मतलब? ऐसी दशा—। अर्थात् स्वयं तो दर्प तथा दूसरों से स्तूयमान होना। वाग्विकल्प अर्थात् अथवा वाक्प्रवृत्ति के हेतुभूत प्रतिभा व्यापार के प्रकार। इसलिए प्रवाद मात्र—। समस्त अभाव-वादियों का यह सामान्य रूप से उपसंहार है। अर्थात्

आपने एक अपूर्व नाम से 'ध्वनि' के नाम से अभिहित कर दिया तो यह कोई महत्त्व का कथन नहीं कहा जा सकता।

१. ऐसा भी सम्भव है 'ध्वनि' कोई ऐसी विच्छित्ति या वैचित्र्य को लेकर कहा गया है जिसका अन्तर्भाव न किसी गुण में होता है और न किसी अलङ्कार में। ऐसी स्थिति में 'ध्वनि' को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यह पूर्वपक्षी की आशङ्का को सर्वथा अभाववादी मान लेता है और अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहता है कि पूर्वाचार्यों द्वारा अनन्त प्रकारों में से किसी अप्रदर्शित प्रकार को लेकर इतना प्रपञ्च खड़ा नहीं किया जा सकता। यह सर्वथा उपहसनीय बात होगी।

ध्वन्यालोकः

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥

भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।

जिसमें अलङ्कारयुक्त, मन को आह्लादित करने वाला कोई अर्थ (वस्तु) नहीं है, जिसे व्युत्पन्न वचनों से नहीं रचा गया है और जो वक्रोक्ति से शून्य है, उस काव्य की 'ध्वनि से समन्वित' यह (मानकर) प्रेम से प्रशंसा करता हुआ जड़ (मूर्ख ध्वनिवादी) सुमति जन द्वारा ध्वनि का स्वरूप पूछे जाने पर, क्या कहता है, हम नहीं जानते ।

अन्य लोग उसे 'भाक्त' कहते हैं; अन्य लोग उस 'ध्वनि' नामक काव्यात्मा को 'गुणवृत्ति' कहते हैं ।

लोचनम्

न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः । न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह— *तथा चान्येनेति* । ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना । यतो न *सालङ्कृति*, अतो न *मनःप्रह्लादि* । अनेनार्थालङ्काराणामभाव उक्तः । *व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैरिति* शब्दालङ्काराणाम् । *वक्रोक्तिः* उत्कृष्टा संघटना, *तच्छून्यमिति* शब्दार्थगुणानाम् । वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन

क्योंकि (यदि ध्वनि) शोभा का हेतु है (तो) गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं है, और क्योंकि (यदि) वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है तो वह शोभा का हेतु नहीं है, और क्योंकि (यदि वह शोभा का हेतु है (तो भी) आदरास्पद नहीं है, इस कारण । यह नहीं कि विना किसी मूल के (यहां) अभाव की सम्भावना है, कहते हैं—जैसा कि दूसरे ने—। अर्थात् ग्रन्थकार के समसामयिक 'मनोरथ'[1] नाम के कवि ने । क्योंकि (वह) अलङ्कारयुक्त नहीं, अतः (वह) मन को आह्लादित करने वाला नहीं है, इससे अर्थालङ्कारों का अभाव कहा है । और व्युत्पन्न वचनों द्वारा रचित भी नहीं—इससे शब्दालङ्कारों का (अभाव कहा है)। वक्रोक्ति अर्थात् उत्कृष्ट सङ्घटना, उससे शून्य—इससे शब्द और अर्थ के गुणों का (अभाव कहा है)। कुछ लोग कहते हैं कि 'वक्रोक्तिशून्य' शब्द से (अलङ्कारों के इस 'वक्रोक्ति' रूप)

१. **मनोरथ कवि**—लोचनकार ने वृत्ति ग्रन्थ में उद्धृत अभाववाद के अनुकूल श्लोक को किसी 'मनोरथ' कवि, जो ग्रन्थकार का समसामयिक था, का कहा है । 'मनोरथ' के नाम से न

लोचनम्

सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनरुक्तत्वं न परिहृतमेवेत्यलम्। *प्रीत्येति*। गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः। *सुमतिनेति*। जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटाक्षादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः।

एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः, न त्वन्योन्यासम्बद्धा एव। तथा हि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनःशब्दस्यायमेवाभिप्रायः, उपसंहारैक्यं च सङ्गच्छते। अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण *भाक्तमाहुरिति*। नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षयाभिधानम्। भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति

सामान्य लक्षण के न होने के कारण समस्त अलङ्कारों का अभाव कहा है। उन (व्याख्याकारों ने) पुनरुक्ति का परिहार नहीं किया है, अतः (उनका कथन) ठीक नहीं। बड़े प्रेम से—। अर्थात् गतानुगतिक (लकीर के फकीर होने के प्रति) अनुराग के कारण। सुलझी बुद्धि वालों द्वारा—। अगर कोई मूर्ख उनसे प्रश्न करता तो वे भौं हिला कर और आंख मटका कर ही उस (ध्वनि) के स्वरूप को पूरा कह डालते—यह मतलब है।

इस प्रकार ये अभाव-वाद के विकल्प शृङ्खला के क्रम से प्राप्त हैं, न कि परस्पर असम्बद्ध[1] हैं, जैसा कि तीसरे अभाव-प्रकार के निरूपण के उपक्रम में 'पुनः' (फिर) शब्द का यही अभिप्राय है, और उपसंहार का एकत्व (साधारण्य) भी संगत होता है। अभाववाद के सम्भावना पर आधारित होने के कारण (उसमें) भूतकाल का प्रयोग किया है। किन्तु भाक्तवाद पुस्तकों में अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है, इस अभिप्राय से 'भाक्तमाहुः'[2] ('भाक्त' कहते हैं) यह नित्य-प्रवृत्त वर्तमान की अपेक्षा से अभिधान है। भज्यते = सेव्यते, अर्थात् प्रसिद्ध होने के कारण उत्प्रेक्षित होता है जो

कोई ग्रन्थ का पता चलता है और न कोई सङ्केत ही मिलता है। 'राजतरङ्गिणी' में कश्मीर के राजा जयापीड (अष्टम शताब्दी) के सभापण्डितों में 'मनोरथ' का उल्लेख है। और मनोरथ के कुछ श्लोकों को आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में उद्धृत किया है। सम्भव है तीनों 'मनोरथ' किसी एक 'कवि' से सम्बद्ध हों।

१. अभाववाद के उपर्युक्त तीन विकल्प परस्पर असम्बद्ध नहीं, वल्कि एक शृङ्खलित रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, इसी लिए सभी अभाववादियों के मतों का साधारण उपसंहार करते हुए वृत्तिग्रन्थ में आचार्य लिखते हैं—'इसलिए ध्वनि प्रवादमात्र है।' इस प्रकार तीनों विकल्पों की परस्पर सम्बद्धता का संकेत तृतीय अभाव-विकल्प के आरम्भ में 'पुनः' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से देता है।

२. अभाववाद चूंकि सम्भावना पर आधारित था इस लिए ग्रन्थकार ने 'जगदुः' यह भूतार्थक प्रयोग किया था किन्तु प्रस्तुत भाक्तवाद अलङ्कार-शास्त्र के ग्रन्थों में अविच्छिन्न रूप से स्मरण किया गया है इसलिए उसके लिए 'आहुः' इस नित्यप्रवृत्त वर्तमान के अर्थ में आचार्य ने प्रयोग किया है। भाक्तवाद को प्राचीनों ने विशेष रूप से 'गुणवृत्ति' शब्द से अभिहित किया है, जो

लोचनम्

भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहुः—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥ इति॥

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीज-

वह 'भक्ति' है; अभिधेय के द्वारा (तटादि का) सामीप्यादि धर्म (उत्प्रेक्षित होता है), उस (सामीप्यादि निमित्त) से आगत (प्रतीत) लाक्षणिक अर्थ (लक्ष्य अर्थ) 'भाक्त' है। जैसा कि कहते हैं—

'अभिधेय के द्वारा सामीप्य, सारूप्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग रूप सम्बन्ध से लक्षणा पांच प्रकार की मानी गई है।'

गुणों के समुदाय में वृत्ति वाले शब्द का अर्थांश तैक्ष्ण्यादि ('सिंहो माणवकः' इस स्थल में) 'भक्ति' है उससे आगत (प्रतीत) गौण अर्थ 'भाक्त' है [सामीप्य] और तैक्ष्ण्य आदि प्रतिपाद्य अर्थ में श्रद्धातिशय 'भक्ति' है। उस (श्रद्धातिशय रूप भक्ति) को प्रयोजन के रूप में उद्देश्य करके उससे आगत 'भाक्त' है, इस प्रकार (भाक्त) गौण और लाक्षणिक है। मुख्य अर्थ का भङ्ग 'भक्ति' है। इस प्रकार मुख्यार्थ की बाधा, निमित्त और प्रयोजन इन तीनों का सद्भाव उपचार का बीज[1] है, यह बात

'लक्षणा' ही है। प्राचीनों में विवरणकार उद्भट लिखते हैं—'शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।' आचार्य वामन लिखते हैं—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।' इस प्रकार आचार्य ने नित्य प्रवृत्त वर्तमान के अर्थ को सूचित करने वाला 'आहुः' इस लट् लकार का सार्थक प्रयोग किया है।

१. 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ—यहाँ 'भक्ति' शब्द से आलङ्कारिकों की 'लक्षणा' (शुद्धा और गौणी) दोनों ग्राह्य हैं। जिस 'लक्षणा' को आलङ्कारिकों ने सादृश्येतर सम्बन्ध से शुद्धा और सादृश्य सम्बन्ध से गौणी माना है उसमें मीमांसकों ने केवल 'गौणी' को लक्षणा से भिन्न वृत्ति स्वीकार किया है। मीमांसक लोग 'गौणी' को एक अलग वृत्ति ही मानते हैं जो 'लक्षणा' से अतिरिक्त है। इस लिए 'भक्ति' शब्द से दोनों लक्षणा और गौणी (अर्थात् शुद्धा लक्षणा और गौणी) दोनों अभिहित होते हैं।

लक्षणा या गौणी के लिए एक दूसरा शास्त्रीय शब्द 'उपचार' भी प्रसिद्ध है। जब कि उपचार 'लक्षणा' के ये तीन बीज-मुख्यार्थ की बाधा, निमित्त और प्रयोजन—जहाँ होंगे वहीं लक्षणा होगी, और प्रस्तुत 'भक्ति' भी चूँकि 'लक्षणा' ही है तो सामान्यतः 'भक्ति' शब्द भी 'लक्षणा' के उक्त बीजों में संगत होना चाहिए, इस अभिप्राय से लोचनकार ने 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ लक्षणा-बीज के अनुकूल की हैं।

(क) 'निमित्त' परक व्युत्पत्ति—भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिः।
(ख) 'प्रयोजन' परक व्युत्पत्ति—भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः।

लोचनम्

मित्युक्तं भवति । *काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति* । सामानाधिकरण्यस्यायं भावः—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति,

कही गई। काव्यात्मा (ध्वनि) को 'गुणवृत्ति' (कहते हैं)—। सामानाधिकरण्य[1] का भाव यह है—यद्यपि 'अविवक्षितवाच्य' नामक ध्वनि के एक भेद 'निःश्वासान्ध इवादर्शः'

(ग) 'मुख्यार्थबाध' परक व्युत्पत्ति—मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः ।

इन तीनों की हिन्दी 'लोचन' के प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद में अक्षरशः कर दी गई है। साथ ही लोचनकार ने मीमांसकों के अनुसार अलग से 'गौणी' के लिए भी 'भक्ति' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः ।

इस प्रकार 'भक्ति' शब्द से 'लक्षणा' और 'गौणी' दोनों वृत्तियाँ ग्राह्य हैं। और, 'तत आगतः' इस पाणिनीय नियम के अनुसार इस प्रकार की लक्षणारूप या गौणीरूप 'भक्ति' से प्रतीत होने वाला लाक्षणिक या गौण अर्थ प्रस्तुत में 'भाक्त' कहा गया है। यही है 'भाक्तमाहुस्तमन्ये', अर्थात् अन्य लोग उस ध्वनि को भाक्त अर्थात् लाक्षणिक या गौण अर्थ कहते हैं।

शुद्ध लक्षणा का प्रचलित उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है तथा 'गौणी' का प्रसिद्ध उदाहरण है 'अग्निर्माणवकः'। कहा जा चुका है 'उपचार' वहीं होता है जहाँ उपर्युक्त 'बीज' हों। गङ्गा में घोष इसलिए सम्भव नहीं कि गङ्गा एक जल का प्रवाह है, नदी है, इसलिए प्रवाह में घोष (गाँव या बथान) नहीं रह सकता, यह मुख्यार्थ की बाधा है। चूँकि गङ्गा के समीप गङ्गा का तट है और उस पर घोष रह सकता है इसलिए 'गङ्गा' का सामीप्यरूप निमित्त से तट अर्थ ग्रहण किया गया इस 'तट' रूप अर्थ के ग्रहण से वक्ता के 'प्रयोजन' रूप शैत्य और पावनत्व की सिद्धि होती है अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' इसके वक्ता का प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि गङ्गा के बिलकुल किनारे घोष है जिससे गङ्गा के सभी शैत्य, पावनत्व आदि गुण 'तट' में ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ लाक्षणिक या लक्ष्य अर्थ 'तट' माना गया।

यही स्थिति 'गौणी' में भी होती है। उदाहरण है—'अग्निर्माणवकः' अर्थात् बालक अग्नि है। यहाँ मुख्यार्थबाध होता है कि बालक अग्नि कैसे है ? तब 'गौणी' द्वारा 'तीक्ष्णतारूप गुण' 'अग्नि' के अर्थभाग के रूप में माना गया (यहाँ यह स्वीकार करना पड़ता है कि अग्नि का गुणरूप अर्थ 'आक्षेप' से नहीं बल्कि 'गौणी' शक्ति से प्रतीत होता है। यहाँ 'तैक्ष्ण्य' रूप गुण 'प्रयोजन' है, जिसकी सिद्धि के लिए 'अग्नि' यह प्रयोग किया गया है। साहित्य-शास्त्र में प्रसिद्ध 'मुखं चन्द्रः' यह रूपक अलङ्कार का उदाहरण भी इस 'गौणी' का ही विषय है। ऊपर कहा जा चुका है कि यह मीमांसकों के अनुसार ही भिन्न वृत्ति है, अन्यथा इसे 'लक्षणा' का ही एक भेद साहित्य में माना गया है।

[ ] इस चिह्न से अङ्कित 'सामीप्य' शब्द 'लोचन' के विचारकों के अनुसार 'प्रामाणिक' पाठ है। यह लेखक-प्रमाद के कारण सर्वत्र मुद्रित मिलता है। पण्डितों का कहना है कि 'सामीप्य' लक्षणा के प्रसिद्ध स्थल 'गङ्गायां घोषः' में किसी प्रकार 'प्रतिपाद्य' या प्रयोजन नहीं हो सकता। क्योंकि उपर्युक्त कारिका को उद्धृत करते हुए लोचनकार ने स्वयं 'सामीप्य' आदि को 'निमित्त' ही माना है। कुछ लोगों ने इस 'सामीप्य' को भी 'पावनत्व' के अर्थ में घसीटने का प्रयत्न किया है जो अस्वाभाविक लगता है। इसके साथ का दूसरा प्रयोग 'तैक्ष्ण्य' गौणी के उदाहरण 'अग्निर्माणवकः' का प्रयोजन बन जाता है, अतः ठीक है।

१. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस मूल ग्रन्थ का व्याख्यान वृत्तिग्रन्थ में 'अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्या-

लोचनम्

तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात्, विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ। अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वक्ष्यामः। तथा च वक्ष्यति—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तथा॥ इति॥
कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्। इति च।

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः। एतदुक्तं भवति—ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा, ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापा-

इत्यादि स्थल में 'उपचार' है, तथापि ध्वनि उपचारात्मा ही नहीं है, क्योंकि उपचार के अभाव में भी (ध्वनि) होता है। और विवक्षितान्यपरवाच्य रूप ध्वनि के प्रभेद आदि में। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में भी उपचार ही होता है ध्वनि नहीं, यह हम कहेंगे। और उस प्रकार (मूलकार) कहेंगे—

'यह ध्वनि रूपभेद के कारण भक्ति के साथ एकत्व प्राप्त नहीं करता। अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण उस प्रकार यह लक्षित नहीं होता।

हाँ, ध्वनि के किसी भेद का वह (भक्ति) उपलक्षण हो सकती है।'

सामीप्यादि धर्म और तैक्ष्ण्यादि धर्म गुण हैं। उन निमित्त रूप उपायों द्वारा अर्थान्तर में जिसकी वृत्ति हो, अथवा उन उपायों द्वारा वृत्ति हो शब्द की जहाँ, वह 'गुणवृत्ति' शब्द अथवा अर्थ है। गुण के द्वारा वर्तन गुणवृत्ति, अमुख्य अभिधा व्यापार है। यह बात कही गई—यदि ध्वनन करता है (ध्वनतीति), अथवा ध्वनित होता है (ध्वन्यत इति), अथवा ध्वनन, यह ध्वनि है तथापि उपचरित शब्द, अर्थ और व्यापार के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। मुख्यार्थ में तो अभिधा ही होती है और अन्त में

त्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः' इन शब्दों में किया गया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि' और गुणवृत्ति दोनों का सामानाधिकरण्य बताया गया है। इसका यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जहाँ गुणवृत्ति होती है वहाँ ध्वनि होता है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि गुणवृत्ति रूप ही ध्वनि है अर्थात् जहाँ गुणवृत्ति है वहाँ ध्वनि है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आगे चल कर ध्वनि के दो भेद बताये गये हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य ध्वनि का उदाहरण दिया गया है—'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि। यहाँ तो उपचार या गुणवृत्ति है, अर्थात् यहाँ ध्वनि के साथ गुणवृत्ति का सामानाधिकरण्य (एक ही अधिकरण में उपस्थिति) बन जाता है किन्तु इस सामानाधिकरण्य का यह अर्थ नहीं कि ध्वनि को कोई उपचारात्मा ही कह डाले। कारण कि ध्वनि वहाँ भी होता है जहाँ उपचार बिलकुल नहीं होता, जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रभेद आदि में। इस प्रकार ध्वनि का गुणवृत्ति के साथ सामानाधिकरण्य तो बन सकता है तादात्म्य या एकरूपता नहीं बन सकती। इसी बात को 'भक्त्या बिभर्ति०' इत्यादि कारिका ग्रन्थ से भी निर्देश किया है। यह विषय आगे और भी स्पष्ट होगा।

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्ति-रन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति ।

यद्यपि 'ध्वनि' शब्द का उल्लेख करके काव्य के लक्षण बनाने वालों ने गुणवृत्ति अथवा दूसरे किसी अन्य प्रकार को प्रकाशित नहीं किया है, तथापि अमुख्य वृत्ति (व्यापार) के द्वारा काव्य से व्यवहार दिखाते हुए (प्राचीन ने) ध्वनि-मार्ग को थोड़ा स्पर्श करके भी लक्षित नहीं किया है, ऐसी परिकल्पना करके इस प्रकार कहा—'अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं ।'

लोचनम्

रातिरिक्तो नासौ कश्चित् । मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात् ।

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—*यद्यपि चेति* । *अन्यो वेति* । गुणालङ्कारप्रकार इति यावत् । *दर्शयतेति* । भट्टोद्भटवामनादिना । भामहेनोक्तं—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति । वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति । *मनाक्स्पृष्ट इति* । तैस्तावद् ध्वनिदिगुन्मीलिता, यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः-प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवद् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति । अत एवाह—*परिकल्प्यैवमुक्तमिति* । यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते ।

केवल वच जाने से (पारिशेष्यात्) अमुख्य ही ध्वनि है, क्योंकि (मुख्य और अमुख्य इन दोनों के अतिरिक्त) तीसरी राशि का सर्वथा अभाव' है ।

यह शङ्का करके कि किसने 'ध्वनि' को 'गुणवृत्ति' कहा है, कहते हैं—यद्यपि—। दूसरे किसी अन्य प्रकार—। गुण या अलङ्कार का कोई प्रकार । दर्शाते हुए—। भट्ट उद्भट और वामन आदि ने । भामह ने कहा है—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः० ।' यहाँ अभिधान का शब्द से भेद व्याख्यान करते हुए उद्भट ने कहा है—'शब्दों का अभिधान अभिधा व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति है ।' वामन ने भी कहा है—'सादृश्य से जो लक्षणा होती है वह 'वक्रोक्ति' कहलाती है । थोड़ा स्पर्श करके—। उन काव्य-लक्षणकारों ने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया है । जैसा जो लिख दिया गया है उसे ही पढ़ लेने वाले, अत; स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ उन्होंने स्वरूप का विवेक

१. 'भाक्त' शब्द का व्याख्यान वृत्ति ग्रन्थ में 'गुणवृत्ति' शब्द से किया गया है । 'गुणवृत्ति' शब्द भी 'ध्वनि' शब्द की भाँति शब्द, अर्थ एवं व्यापार इन तीनों में इस प्रकार सङ्गत हो

ध्वन्यालोकः

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

फिर लक्षण बनाने में शालीनबुद्धि कुछ लोगों ने ध्वनि के तत्त्व को वाणी से परे, केवल सहृदय जनों के हृदय द्वारा संवेद्य, समाख्यान किया है। इस कारण, इस प्रकार की विमतियों के होने पर सहृदय जनों के मन की प्रसन्नता के लिए हम उस (ध्वनि) का स्वरूप कहते हैं।

लोचनम्

शालीनबुद्धय इति। अप्रगल्भमतय इत्यर्थः। एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते। अन्त्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति

नहीं किया, प्रत्युत उपालम्भ ही करने लगे। नहीं भग्न हुए नारियल की भाँति जैसा सुना वैसा ही उस ग्रन्थ का उद्ग्रहण (धारण) मात्र कर लिया। अत एव कहते हैं—परिकल्पना[1] करके इस प्रकार कहा है—। यदि इस प्रकार ग्रन्थार्थ की योजना नहीं करते हैं तो 'ध्वनि-मार्ग को स्पर्श करके' यह पूर्वपक्ष का कथन विरुद्ध हो जाता।

शालीनबुद्धि—। अर्थात् अप्रगल्भमति। ये तीनों (विप्रतिपत्तिकार उत्तरोत्तर भव्यबुद्धि हैं। क्योंकि पहले वाले (अभाववादी) सर्वथा विपर्यय में पड़ गए हैं। मझले (भाक्तवादी) उस (ध्वनि) का स्वरूप जानते हुए भी सन्देह के कारण छिपा देते हैं। और अन्त वाले नहीं छिपाते हुए भी (ध्वनि को) लक्षित करना नहीं जानते हैं। इस क्रम से इन (विप्रतिपत्तिकारों) का विपर्यास, सन्देह और अज्ञान का प्राधान्य है।

जाता है। 'गङ्गायां घोषः' आदि स्थल में सामीप्य आदि धर्म 'गुण' हैं, उन्हीं गुण रूप उपायों से जिस 'गङ्गा' आदि शब्द की अर्थान्तर 'तीर' आदि में वृत्ति हो, यह 'गुणवृत्ति' का शब्दपरक समास है। उन्हीं उपायों से तीरादि अर्थ में जिस शब्द की वृत्ति हो, यह उसका अर्थपरक समास है और 'गुण द्वारा वर्तन गुणवृत्ति है, यह अमुख्य अभिधा व्यापार-परक समास है। 'ध्वनति', 'ध्वन्यते', 'ध्वननम्' इस रूप में 'ध्वनि' शब्द भी शब्द, अर्थ और व्यापार इन तीनों में सङ्गत होता है। इस प्रकार भाक्तवादी के कहने का तात्पर्य है कि 'ध्वनि' तत्त्व उपचरित शब्द, अर्थ और व्यापार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। उनका दृढ़ पक्ष यह है कि किसी भी शब्द के दो ही अर्थ हो सकते हैं मुख्य या अमुख्य। जब मुख्य अर्थ में अभिधा को व्यापार स्वीकार किया गया, तब अमुख्य अर्थ ही शेष रहा, ऐसी स्थिति में ध्वनि 'भाक्त' ही सिद्ध होता है। क्योंकि अर्थ की कोई तृतीय राशि मुख्य और अमुख्य के अतिरिक्त सम्भव नहीं।

१. जैसा कि वृत्तिग्रन्थ में आचार्य ने जो कहा है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्यों में अमुख्य व्यवहार का संकेत किया है उसका स्पष्टीकरण 'लोचन' में आचार्य अभिनवगुप्त ने भामह, भट्टोद्भट एवं वामन की उक्तियों को उद्धृत करके किया है। भामह और भट्ट उद्भट ने मुख्य के अतिरिक्त गुणवृत्ति व्यापार को और वामन ने सादृश्य से लक्षणा को 'वक्रोक्ति' के रूप में स्वीकार किया है।

लोचनम्

क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम्। *तेनेति*। एकैकोऽप्ययं विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम्। *एवंविधासु विमतिष्विति* निर्धारणे सप्तमी। आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैव हेतुना *तत्स्वरूपं ब्रूम इति*, ध्वनिस्वरूपमभिधेयम्, अभिधानाभिधेयलक्षणो

इस कारण—। विप्रतिपत्तिरूप एक भी वाक्यार्थ (ध्वनि के) निरूपण में हेतु बन जाता है इसलिए 'एकवचन'[1] का प्रयोग है। 'इस प्रकार की विमतियों में' यहाँ 'निर्धारण' में[2] सप्तमी है। इन (विमतियों के) बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से 'उस (ध्वनि) का स्वरूप हम कहते हैं'; (इस ग्रन्थ का) [3]ध्वनि-स्वरूप अभिधेय

इस प्रकार उन्होंने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन तो कर ही दिया, क्योंकि जब 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में आचार्य भामह को स्वीकार हो चुका कि 'गङ्गा' का अमुख्य अर्थ 'तीर' है तब वे प्रयोजन रूप शैत्य-पावनत्व तक, जो ध्वनि का अपना पक्ष है, पहुँच ही चुके थे, प्रायः स्पर्श तो उन्होंने कर ही लिया था। ऐसी अनुकूल स्थिति में भी, कुछ लोगों ने, जिन्हें स्वरूपविवेक का सामर्थ्य न था, इस प्राचीन 'ध्वनि' को 'भाक्त' कहा और ऊपर से उपालम्भ देना भी शुरू कर दिया। हम ध्वनिवादी 'भाक्त' पक्ष को अस्वीकार कहाँ करते हैं। बल्कि हमारा कहना है कि भाक्तवादियों ने तो 'ध्वनि' को स्वीकार ही कर लिया, क्योंकि ध्वनि का एक भेद, जो अविवक्षित-वाच्य है वहाँ 'भक्ति' या लक्षणा, जिसे उपचार और गुणवृत्ति भी कहा है, बिलकुल प्राप्त होती है। किन्तु इन बीच के लोगों ने वही स्थिति अपनाई जो किसी नारियर के न फोड़े जाने पर उसके सम्बन्ध में होती है। जिस प्रकार नारियल के फल को ऊपर से छील देने के बाद दूसरी स्थिति तक रह जाने से कोई लाभ नहीं, उसके बाद उसे फोड़ने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ध्वनि-पक्ष के अनुकूल भाक्त-वाद को स्वीकार करने पर भी एक कदम और आगे बढ़ने की आवश्यकता रह जाती है। वही न करके भाक्तवादियों ने 'ध्वनि' का उपालम्भ शुरू कर दिया, अतः उन्हें ध्वनि-पक्ष के प्रतिकूलवादियों में स्थान मिला। लोचनकार का कहना है कि प्रस्तुत वृत्ति ग्रन्थ को कुछ इसी प्रकार लगाना चाहिए।

१. एकवचन—वृत्तिग्रन्थ में तीनों ध्वनि की विप्रतिपत्तियों को उद्धृत करके ध्वनि के स्वरूप के प्रतिपादन में तीनों एक-एक करके हेतु हैं इस बात को सूचित करने के लिए आचार्य ने 'तेन' ('इस कारण') इस एकवचन का प्रयोग किया है, वस्तुतः बहुवचन प्रासङ्गिक था। ध्वनि का निरूपण केवल अनेक विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए नहीं किया जा रहा है बल्कि प्रत्येक विप्रतिपत्ति इसके द्वारा निराकरणीय है।

२. 'निर्धारण' में सप्तमी वहाँ होती है जहाँ बहुतों में से किसी एक को निर्धारित करना होता है। प्रस्तुत में अनेक विमतियों में कोई एक भी ध्वनिस्वरूप के निरूपण का हेतु है। ऐसी स्थिति में यहाँ पाणिनीय सूत्र 'यतश्च निर्धारणम्' (२. ३. ४१) के अनुसार निर्धारण में सप्तमी का विषय है, न कि 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (पा. सू. २. ३. ३७) के अनुसार भावलक्षण में सप्तमी का, क्योंकि यहाँ क्रिया से क्रियान्तर के लक्षित होने का कोई प्रसङ्ग नहीं, इससे एक-एक विप्रतिपत्ति का निरूपणहेतुत्व सिद्ध नहीं होता।

३. यहाँ लोचनकार ने प्रस्तूतमान ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के 'अनुबन्धचतुष्टय' का उल्लेख किया है। किसी भी ग्रन्थ के अध्ययन में श्रोता की प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब वह अनुभव करे कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से उसका इष्टसिद्ध होगा, अर्थात् उसे पहले विदित करना चाहिये कि ग्रन्थ के

ध्वन्यालोकः

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

उस ध्वनि का स्वरूप जो सकल सत्कवियों के काव्यों का उपनिषद्भूत, अतिरमणीय है, जो प्राचीन लक्षणकारों की अणुपरिमाण (सूक्ष्मतम) बुद्धि द्वारा भी उन्मीलित नहीं हुआ है, और, जिसका रामायण, महाभारत प्रभृति लक्ष्य (ग्रन्थों) में व्यवहार प्रसिद्ध है, लक्षित करते हुए सहृदय जनों के मन में आनन्द प्रतिष्ठित हो इस उद्देश्य से उसे प्रकाशित करते हैं।

लोचनम्

ध्वनिशास्त्रयोर्वक्तृश्रोत्रोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः, विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्, शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधनभावस्सम्बन्ध इत्युक्तम्।

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमनःप्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह—*तस्य हीति*। विमतिपदपतितस्येत्यर्थः। ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि *मनसि आनन्दो* निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः, *प्रतिष्ठां* परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं, *लभतामिति* प्रयोजनं सम्पादयितुं

(विषय) है, ध्वनि और शास्त्र में अभिधानाभिधेय रूप सम्बन्ध और वक्ता एवं श्रोता में व्युत्पाद्यव्युत्पादकभाव रूप सम्बन्ध है, विमतियों की निवृत्ति सहित उस (ध्वनि) का स्वरूपज्ञान प्रयोजन है, शास्त्र और प्रयोजन का सम्बन्ध साध्यसाधनभाव रूप है, यह बात कही गई।

अब श्रोतृगत प्रयोजन के प्रयोजन[1] का प्रतिपादन करने वाले 'सहृदय जनों के मन की प्रीति के लिए' इस भाग के व्याख्यान के लिए कहते हैं—उस ध्वनि का—। अर्थात् विमति के मार्ग में पड़े हुए ध्वनि का स्वरूप लक्षित करते हुए के मन में आनन्द, जो निर्वृति रूप और दूसरे शब्द में 'चमत्कार' है, प्रतिष्ठा को, अर्थात् विपर्यास आदि (कमजोरियों) से उपहत दूसरे (अभाववादी आदि) द्वारा अनुन्मूलित होने के कारण स्थिरता को, प्राप्त करे, इस प्रयोजन के सम्पादन के लिए उस (ध्वनि) का स्वरूप

विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन क्या हैं? इन्हीं चारों को शास्त्रीय परिभाषा में 'अनुबन्धचतुष्टय' कहा गया है। इसका निर्देश ग्रन्थारम्भ में भी किया जा चुका है।

१. आरम्भ में भी कहा जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन ध्वनिस्वरूप का ज्ञान है, किन्तु इस प्रयोजन का भी प्रयोजन है सहृदयजनों की मनःप्रीति। क्योंकि 'काव्य' के तत्त्वज्ञान के लिए ध्वन्यालोक का निर्माण अभीष्ट है और 'काव्य' का चरम लक्ष्य सहृदयजनों की मनःप्रीति

लोचनम्

तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः। प्रयोजनं च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृताप्राणतयैव तथा भवतीत्याशयेन 'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः' इत्येकवाक्यतया

प्रकाशित करते हैं, यह सङ्गति है। और प्रयोजन, जो उस (प्रयोजन) के सम्पादक वस्तु की जो प्रयोक्तृता या 'प्रयोजकता रूप प्राण है जिसका, इस प्रकार का होता है,' इस आशय से 'प्रीति के लिए उस (ध्वनि) का स्वरूप हम कहते हैं' इस प्रकार एक वाक्य रूप से व्याख्या करनी चाहिए (अथवा यह व्याख्या है)। 'उसका स्वरूप'[२] इसकी

ही है। यश आदि साधारण कोटि के प्रयोजन हैं। इसीलिए ध्वन्यालोक का भी मुख्यभूत प्रयोजन अर्थात् प्रयोजन का प्रयोजन 'सहृदयमनःप्रीति' ही सूचित की गई।

१. ध्वनिस्वरूप के प्रस्तुत निरूपण के दो ही प्रयोजन हैं। एक तो 'ध्वनि' के सम्बन्ध में विमतियों का निराकरण और दूसरा सहृदयजनों की प्रीति। यदि 'प्रयोजन' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य' अर्थ देखा जाय तो प्रयोजन वही होता है जो प्रेरणा करता है (प्रेरयतीति प्रयोजनम्) इस आधार पर यहाँ वस्तुतः प्रयोजन 'प्रीति' ही है, क्योंकि ध्वनिस्वरूप का निरूपण सहृदयजनों को प्रसन्न करने के लिए ही आचार्य विमतियों के निराकरणपूर्वक करने जा रहे हैं। इसी लिए लोचनकार स्पष्टरूप से 'प्रयोजन' शब्द का प्रतिपादन करते हैं कि प्रयोजन अपने सम्पादक वस्तु की प्रयोजकता से प्रयोजन कहलाता है, प्रस्तुत में, ध्वनिस्वरूप का निरूपण प्रीतिरूप प्रयोजन का सम्पादक है। इस प्रकार एक वाक्यरूप से कि प्रीति के लिए 'उसके स्वरूप को हम कहते हैं' व्याख्या करनी चाहिए--(अथवा यदि 'व्याख्येयम्' को 'व्याख्या इयम्' मानें तो यहाँ कहना होगा कि इस प्रकार एकवाक्य रूप से यह व्याख्या है)।

२. मूल कारिकाग्रन्थ के 'तत्स्वरूपम्' की व्याख्या वृत्ति-ग्रन्थ में अनेक विशेषणों से करते हुए आचार्य ने पूर्वनिर्दिष्ट पांचों विकल्पों के एक प्रकार से निराकरण का अभिप्राय सूचित किया है यह आचार्य अभिनव की सूक्ष्मेक्षिका है। इसे स्पष्टरूप से क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिये— वक्ष्यमाण ध्वनिस्वरूप 'सकल सत्कवियों के काव्यों का उपनिषद्भूत है' अर्थात् ध्वनि सभी सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत तत्त्व है, काव्यतत्त्वज्ञान से वञ्चित लोग उसे नहीं समझ सकते हैं। जैसा कि पहले अभाववादी के मत में कहा गया था कि वाग्विकल्पों के अनन्त होने के कारण प्रसिद्ध आलङ्कारिकों द्वारा किसी अप्रदर्शित प्रकारलेश को ही लेकर 'ध्वनि' कह दिया गया है, यह बात प्रस्तुत विशेषण के 'सकल' और 'सत्कवि' के प्रयोग से निराकृत हो जाती है। यह कोई ऐसा वाग्विकल्प नहीं जो अप्रदर्शित हो बल्कि यह तो सभी कवियों के काव्य में पाया जाता है, किन्तु इतना अवश्य है कि वह उपनिषद्भूत या परम रहस्य है उसे साधारण प्रतिभावाले नहीं समझ सकते हैं। दूसरे, इसे 'उपनिषद्भूत' कहने से 'अपूर्व समाख्या' (नया नामकरण) वाला जो दोष दिया गया था उसका निराकरण हो जाता है, क्योंकि जब यह सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है ऐसी स्थिति में इसका अपूर्व समाख्यामात्र होना सम्भव नहीं। इसे 'अतिरमणीय' कह कर 'भाक्त' से इसकी विलक्षणता कही गई है। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' आदि में कोई रमणीयता नहीं है। 'अणुपरिमाण बुद्धि' के कहने से इस बात को सूचित किया कि ध्वनिस्वरूप साधारणबुद्धि-संवेद्य गुण तथा अलङ्कारों में अन्तर्हित नहीं हो सकता, वह तो ऐसा है कि उसे सूक्ष्म परिमाण बुद्धि से भी समझ पाना कठिन है। जो कि शङ्का कर चुके हैं, कुछ विद्वानों (सहृदयों) का दल बनाकर 'ध्वनि' को मान्यता दी जा सकती है, उसे निरवकाश इस प्रकार प्रस्तुत में आचार्य ने किया है कि सर्वत्र रामायण-महाभारत-प्रभृति लक्ष्य में ध्वनिस्वरूप प्रसिद्ध व्यवहार है तथा आदिकवि से लेकर सभी सूरियों ने उसका आदर किया है। 'लक्षित करते हुए'

लोचनम्

व्याख्येयम् । तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः संक्षेपेण तावत्पूर्वोदीरितविकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति—*सकलेत्यादिना* । सकलशब्देन सत्कविशब्देन च प्रकारलेशे कस्मिंश्चिदिति निराकरोति । *अतिरमणीयमिति* भाक्ताद्व्यतिरेकमाह । न हि 'सिंहो वटुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित् *उपनिषद्भूतशब्देन* तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम् । *अणीयसीमिरित्यादिना* गुणालङ्कारानन्तर्भूतत्वं सूचयति । *अथ चेत्यादिना* 'तत्समयान्तःपातिन' इत्यादिना यत्सामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशीकरोति । *रामायणमहाभारतशब्देनादिकवेः* प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति । *लक्ष्यतामित्यनेन* वाचां स्थितमविषय इति परास्यति । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम् । लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः । *सहृदयानामिति* । येषां

व्याख्या करते हुए, संक्षेप से, जो पहले पाँच विकल्प कहे जा चुके हैं, उनका निराकरण सूचित करते हैं—सकल इत्यादि द्वारा । 'सकल' शब्द द्वारा और 'सत्कवि' शब्द द्वारा 'किसी प्रकार लेश में' इसका निराकरण करते हैं । 'अतिरमणीय' इस विशेषण द्वारा 'भाक्त' से व्यतिरेक (वैलक्षण्य) कहा । क्योंकि 'सिंहो वटुः' और 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में कोई रम्यता नहीं है । 'उपनिषद्भूत' इस विशेषण शब्द द्वारा 'अपूर्व समाख्या (ध्वनि यह नया नाम) मात्र करना' इत्यादि का निराकरण किया है । अणुतर (अणीयसी) इत्यादि इस (बुद्धि के विशेषण) द्वारा (ध्वनि का) गुण और अलङ्कार में अन्तर्भाव का न होना सूचित करते हैं । 'और भी' इत्यादि से 'उस समय के होने वाले' इत्यादि द्वारा जो सामयिक होने की शङ्का की थी उसे निरवकाश करते हैं । 'रामायण-महाभारत' शब्द से यह दिखाते हैं कि आदिकवि से लेकर समस्त सूरियों (विद्वानों) ने इस ध्वनि का आदर किया है । 'लक्षित करते हुए' इससे 'वचनों के अविषय में स्थित' इसे निराकरण करते हैं । 'लक्षित करते हैं इससे, अतः 'लक्ष' लक्षण है । लक्ष के द्वारा निरूपण करते हैं, लक्षित करते हैं, उनका अर्थात् लक्षण द्वारा निरूपण करते हुए का । सहृदयों का—। काव्यों के अनुशीलन के अभ्यासवश जिनके विशदीभूत मन के दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की

कह कर आचार्य ने तीसरे अलक्षणीयतावादी के मत का निराकरण किया । इस प्रकार प्रायः सभी विप्रतिपत्तियाँ 'ध्वनिस्वरूप' के इन विशेषणों द्वारा निराकृत हो जाती हैं ।

१. **'लक्ष्यताम्'** ('लक्षित करते हुए') इस शब्द का अर्थ करते हुए लोचनकार लिखते हैं—'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम् , लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः ।' यहाँ लोचनकार ने 'करण' में घञ् करके 'लक्ष' को 'लक्षण' के अर्थ में लिया है, किन्तु पाणिनीय शास्त्र के नियम के अनुसार 'करण' में 'घञ्' नहीं होता है क्योंकि 'ल्युट्' उसे बाध लेता है । फिर भी इसका साधारण समाधान यह है कि जब महाभाष्यकार ने स्वयं 'करण' में 'घञ्' बाहुलक के अनुसार मान लिया है । ऐसी स्थिति में यहाँ भी कोई विशेष त्रुटि नहीं कही जा सकती । किन्तु 'दिव्याञ्जना' में मेरे पूज्यपाद गुरु जी (महादेव शास्त्री जी) ने 'लक्षयताम्' इसका ही अर्थ 'निरूपयताम्' करके अगतिकगति 'बाहुलक' पक्ष को सुधीजनों के विचारणीय बताया है ।

लोचनम्

काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ इति ॥

आनन्द इति। रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता ॥

इति तदपहस्तितं भवति। तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति। यथोक्तं त्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। इति।

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम्। रसध्वन्यभि-

योग्यता हो वे, अपने हृदय के साथ संवाद[1] को भजन करने वाले जन 'सहृदय' हैं। जैसा कि कहा है—

'जो अर्थ (विभावादि रूप वस्तु) हृदय के साथ संवाद रखने वाला होता है उसका भाव (भावना) रस की अभिव्यक्ति का कारण होता है। वह (सहृदय के) शरीर को उस प्रकार व्याप्त कर लेता है जिस प्रकार सूखे काठ को अग्नि।'

आनन्द—। रसचर्वणा रूप प्राधान्य को दिखाते हुए, 'रसध्वनि' का ही सर्वत्र मुख्य रूप से आत्मत्व है—यह दिखाते हैं। इसलिए जो कि कहा है—

'ध्वनि नाम का जो भी अन्य व्यञ्जनात्मक व्यापार है उसका (अभिधा और भावना से) भेद सिद्ध होने पर भी उसका काव्य में अंशत्व होगा, रूपता नहीं।'

वह निराकृत हो जाता है, क्योंकि अभिधा, भावना और रसचर्वणा रूप तीन अंश वाले काव्य में रसचर्वणा प्राणभूत है, यह आपके मत में भी निर्विवाद है। जैसा कि तुमने ही कहा है—

'काव्य में रस लेने वाले सब हो जाते हैं पर जानने वाला नहीं होता और आज्ञापालन करने वाला (नियोगभाक्) नहीं होता।'

वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि के अभिप्राय से (उसका) अंशमात्रत्व[2] है तो

१. काव्य को पढ़ते हुए वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयता होने पर ही 'आनन्द' स्थिति आती, यही 'हृदय का संवाद' है अर्थात् समान हृदय ही सहृदय होता है।

२. आचार्य भट्टनायक ने काव्य के तीन अंश माने हैं—अभिधा, भावना और ध्वनि। उनका यह तात्पर्य है कि ध्वनि व्यञ्जनात्मक व्यापार है और अभिधा एवं भावना से भिन्न है तथापि उसे काव्य में 'अंशत्व' ही प्राप्त है 'रूपता' नहीं 'अंशत्व' से अभिप्राय शब्द के एक व्यापार का जो महत्त्व है वही है और 'रूपता' अर्थात् अंशित्व या आत्मत्व। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य में 'ध्वनि' अंशी या आत्मा की स्थिति में आने के योग्य नहीं, वल्कि वह भी एक शब्द का व्यापार है जैसे अभिधा और भावना शब्द के व्यापार हैं। इस पर लोचनकार यह विचार करते हैं कि यदि

लोचनम्

प्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति। तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ इति॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः। यथोक्तम्—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥ इति॥

यह (कहना) सिद्धसाधन है। और यदि रसध्वनि के अभिप्राय से है तो अपने ही मानी हुई प्रसिद्धि रूप सहृदयानुभव संवेदन के विरुद्ध हो जाता है। कवि कीर्ति से भी प्रीति का ही सम्पादन करता है। जैसा कि कहा है—'कीर्ति को स्वर्ग रूप फल वाली कहते हैं' इत्यादि। और श्रोताओं को व्युत्पत्ति और प्रीति दोनों होती हैं, जैसा कि कहा है—

'साधु काव्य के निषेवण से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में कुशलता तथा कीर्ति और प्रीति फल प्राप्त होते हैं।'

तथापि, वहां प्रीति ही प्रधान है। यदि ऐसा नहीं होता तो प्रभुसम्मित वेदादि और मित्रसम्मित इतिहासादि, जो व्युत्पत्ति के हेतु हैं, उनसे व्युत्पत्ति के हेतु काव्य रूप का जायासम्मितत्व रूप विशेष क्या रहेगा? अतः प्रधान रूप से आनन्द ही कहा है। धर्मादि चारों वर्गों की व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक मुख्य फल है।

और, 'आनन्द' यह ग्रन्थकार का नाम है। इससे यह भाव है कि वह आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रतिष्ठा को, अर्थात् देवालय में देवता की भांति कभी नष्ट न होने वाली शाश्वत स्थिति को, प्राप्त करें। जैसा कि कहा है—

'स्वर्ग में पहुँचे हुए भी सत्काव्य का निर्माण करने वाले कवियों का, बिना किसी आतङ्क का, सुन्दर काव्यमय शरीर (प्रतिष्ठित) ही रहता है।'

भट्टनायक ने वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि के अभिप्राय से 'ध्वनि' को 'अंश' ही माना है अंशी नहीं, वह तो स्वीकार्य है क्योंकि यह बात पहले से सिद्ध हो चुकी है। किन्तु यदि रसचर्वणा रूप ध्वनि को मन में रखकर उसके अंशित्व या रूपता (आत्मत्व) का निराकरण करते हैं तो यह उनके ही स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध होता है।

लोचनम्

यथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति यावत्। यथा—'युद्धे प्रतिष्ठा परमार्जुनस्य' इति। स्वनामप्रकटीकरणं श्रोतॄणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति ग्रन्थान्ते वक्ष्यामः। एवं ग्रन्थकृतः कवेः श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम् ॥ १ ॥

ननु 'ध्वनिरूपं ब्रूम' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां

जैसे 'मन में प्रतिष्ठा' उसी प्रकार इसका मन है, मतलब यह कि ग्रंथकार तो सहृदयचक्रवर्ती है। जैसे—'युद्ध में अर्जुन की परम प्रतिष्ठा है'। अपने नाम का प्रकटीकरण श्रोताओं की प्रवृत्ति का अङ्ग सम्भावना-प्रत्यय उत्पन्न करने के द्वारा है, यह हम ग्रन्थ के अन्त में कहेंगे। इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का मुख्य प्रयोजन[1] कहा गया ॥ १ ॥

'ध्वनि का स्वरूप कहेंगे' यह प्रतिज्ञा करके 'वाच्य और प्रतीयमान ये अर्थ के दो भेद हैं' इस प्रकार 'वाच्य' के कहने में कारिका की क्या सङ्गति है ? यह आशङ्का

१. यहाँ कवि, श्रोता और ग्रन्थकार तीनों का पर्यन्तिक उद्देश्य या फल प्रीति या आनन्द को ही आचार्य ने सिद्ध किया है। कारिका में 'प्रीति' शब्द और वृत्ति में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग है। यद्यपि कवि के लिए कीर्ति आदि अनेक फलों का निर्देश किया गया है किन्तु कीर्ति से भी प्रीति ही कवि के द्वारा सम्पाद्य होती है। वचन भी है—'कीर्ति को स्वर्गरूप फल वाली कहते हैं' 'स्वर्ग' क्या है ? निरतिशय आनन्द, जिस आनन्द से बढ़ कर कोई आनन्द की स्थिति नहीं रह जाती हो। जो कि श्रोताओं की बात है, उन्हें व्युत्पत्ति (निपुणता) और प्रीति ये दोनों फल प्राप्त होते हैं, उनमें भी प्रधानता प्रीति को ही है। क्योंकि व्युत्पत्ति तो इतिहास आदि के पढ़ने से भी प्राप्त हो जाती है। उपदेश तीन प्रकार के माने गये हैं—प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और जायासम्मित। वेद प्रभुसम्मित उपदेश करता है, अर्थात् वेद जो आज्ञा कर दे उसमें तर्क करने का अवसर ही नहीं रहता जैसे कि स्वामी की आज्ञा में। इतिहास आदि मित्रसम्मित उपदेश करते हैं, अर्थात् मित्र की भाँति अच्छे बुरे को स्पष्टरूप से निर्देश कर देते हैं और स्वयं निर्णय कर लेने के लिए छोड़ देते हैं। किन्तु इन सब में विलक्षण काव्य जायासम्मित उपदेशक है, उसकी विशेपता यह है कि उसके उपदेश में व्युत्पत्ति के साथ प्राधान्य रूप से आनन्द भी रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति का भी पार्यन्तिक फल प्रीति या आनन्द ही है।

साथ ही आचार्य ने ग्रन्थकार का उद्देश्य भी 'आनन्द' इस नाम के प्रकटीकरण से प्रकट कर दिया। यहाँ ग्रन्थकार का उद्देश्य है कि वह सहृदयजनों के हृदयों में उस प्रकार प्रतिष्ठा या बहुमान लाभ करे जो किसी देवता के मन्दिर में देवता को प्राप्त होती है। मन्दिर में प्रतिष्ठा तो शाश्वत नहीं होती किन्तु मन में प्रतिष्ठा निश्चय ही शाश्वत होती है। इसप्रकार जब वह (ग्रन्थकार) सहृदयजनों के मन में प्रतिष्ठित रहेगा तो उसके इस सम्भावनाप्रत्यय अर्थात् बहुमान के प्रति विश्वास करके श्रोतृवर्ग अवश्य उसके नाम से प्रवृत्त होगा। इसी उद्देश्य से आचार्य ने प्रस्तुत ग्रंथ के अन्त में भी अपना नाम स्थापित किया है। प्रायः ऐसा होता है कि लोग परम्परा से जिस आचार्य के गौरव सुने होते हैं उसी के प्रति उसके नाम से आकृष्ट होकर उसके ग्रन्थ का श्रवण

ध्वन्यालोकः

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ २ ॥

अब लक्षित करने के लिए आरम्भ किए गए ध्वनि की ही भूमिका रचने के लिए यह कहते हैं—

'सहृदय जनों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ 'काव्य की आत्मा' के रूप में व्यवस्थित है उसके वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो भेद माने गए हैं ॥ २ ॥

लोचनम्

करोति–*तत्रेति* । एवंविधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थित इत्यर्थः । भूमिरिव *भूमिका* । यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते, तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः । तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम् । *स्मृतावित्यनेन* 'यः समाम्नातपूर्व' इति द्रढयति । 'शब्दार्थशरीरं काव्यमि'ति यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव । तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत् । अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति । न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात् । तदाह–*सहृदय*-

करके सङ्गति करने के लिए अवतरणिका देते हैं—अब—। अर्थात् इस प्रकार के अभिधेय और प्रयोजन के स्थित होने पर । भूमि के समान = भूमिका। जैसे अपूर्व (वस्तु) का निर्माण करना चाहें तो पहले भूमि बना ली जाती है, वैसे प्रतीयमान नायक ध्वनि-स्वरूप का निरूपण करिष्यमाण होने पर, उसके लिए निर्विवाद सिद्ध वाच्य का कथन यहां भूमि है, क्योंकि उस (वाच्य) की पीठ पर अधिक प्रतीयमान का उल्लेखन होगा । वाच्य के साथ बराबरी के सिरे से गणन का उद्देश्य है उसके अनपह्नवनीयत्व का प्रतिपादन । (कारिका में) 'स्मृतौ' इससे 'पहले कहे गए हैं' (यः समाम्नात-पूर्वः) इसे दृढ़ करते हैं। जैसा कि कहा है 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं'; उसके अनुसार शरीर ग्रहण से ही उसे अनुप्राणित करने वाले किसी आत्मा को होना ही चाहिए । ऐसी स्थिति में, शब्द तो शरीर के भाग में ही सन्निवेश प्राप्त करता है क्योंकि (वह) स्थूल और कृश आदि (शरीर) की भाँति सभी लोगों द्वारा संवेद्य है । अर्थ सभी लोगों द्वारा संवेद्य नहीं होता । न कि अर्थ मात्र से काव्य का व्यपदेश (व्यवहार) होता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में वह (काव्य का व्यपदेश) नही होता । इस लिए कहते हैं—सहृदय जनों द्वारा प्रशंसनीय—। वह एक ही अर्थ

करते हैं । इसीलिए ग्रन्थकार अपना नाम दिया करते हैं । इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का मुख्य प्रयोजन आनन्द कहा गया ।

लोचनम्

श्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते।

तथाहि—तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते। तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण। यो विशेषः, स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे। अत एव *अर्थ* इत्येकतयोपक्रम्य *सहृदयश्लाघ्य* इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा *तस्य द्वौ भेदावंशावि*त्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति।

दो शाखाओं (अंशों) वाला होने के कारण विवेचनशील लोगों द्वारा विभाग-बुद्धि से विभाजित किया जाता[1] है।

जैसा कि—दोनों का अर्थरूप होना समान है तब क्यों किसी एक के लिए सहृदय जन प्रशंसा करते हैं ? अतः, वहाँ किसी विशेष को होना चाहिए। जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग, विशेष होने के कारण विवेकी लोगों द्वारा आत्मा के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है। वाच्य अर्थ की संवलना (वासना) से विमोहित हृदय वाले लोग उस (प्रतीयमान) के अलग होने में विप्रतिपत्ति करते हैं, जिस प्रकार चार्वाक लोग आत्मा को (शरीर से) अलग मानने में। अत एव 'अर्थः' इस एकवचन के रूप से उपक्रम करके 'सहृदयश्लाघ्य' (सहृदय जनों द्वारा प्रशंसनीय) इस विशेषण द्वारा हेतु कहकर विभाग (अपोद्धार) की दृष्टि से उसके दो भेद अर्थात् अंश हैं, यह कहा है; न कि काव्य के दोनों ही अर्थ आत्मा हैं।

१. प्रस्तुत 'कारिका' साधारण विचार वालों को भ्रम में डाल देने वाली है। कुछ लोग भ्रम में पड़ कर समझ जाते हैं कि आचार्य ने यहाँ 'ध्वनि' का ही भेद करना आरम्भ कर दिया है, फिर यह सोच कर और भी परेशानी होती है कि ध्वनि का भेद है तो 'वाच्य' अर्थ ध्वनि के भेद के अन्तर्गत कैसे आ सकता है ? इस भ्रम का निवारण 'लोचन' में बड़ी योग्यता से किया गया है। लोचनकार का कहना है कि यहाँ ग्रन्थकार अपने साध्य प्रतीयमान अर्थ को निर्विवाद सिद्ध वाच्य अर्थ की सामान्य कोटि में लाकर प्रतीयमान का भी वाच्य अर्थ की भाँति 'अनपह्नवनीयत्व' (प्रतिषेधनीयत्व) प्रतिपादन करना चाहते हैं। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना गया है, ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि उस काव्य-शरीर का कोई आत्मा भी हो। शब्द और अर्थ में अर्थ की अपेक्षा शब्द अधिक स्थूल होता है, इसलिए साधारण लोग भी उसे जान लेते हैं किन्तु अर्थ को साधारण लोग नहीं समझ पाते। किन्तु केवल अर्थ के आधार पर कभी किसी रचना को 'काव्य' नहीं कहा गया है इसलिए अपेक्षित है कि वह अर्थ 'सहृदयजनों के द्वारा प्रशंसा के योग्य' हो—सहृदयश्लाघ्य हो। इस प्रकार सामान्य अर्थ और सहृदयश्लाघ्य अर्थ का भेद हर विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसीलिए आचार्य ने एक ही अर्थ को दो भागों में विभक्त किया। किन्तु अर्थ की दृष्टि से वाच्य और प्रतीयमान दोनों एक होने पर भी जहाँ तक सहृदयश्लाघ्यत्व की बात है उसके अनुसार काव्य की आत्मा प्रतीयमान अर्थ ही होगा, वाच्य अर्थ नहीं। कुछ लोग अवश्य यह विप्रतिपत्ति खड़ी कर सकते हैं कि प्रतीयमान अर्थ ही क्यों, वाच्य अर्थ भी सहृदयश्लाघ्य हो सकता है ? जिस प्रकार चार्वाकों ने शरीर को लेकर ही पृथक् आत्मा स्वीकार करने का वाद

ध्वन्यालोकः

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सार-रूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।

ललित और उचित सन्निवेश के कारण चारु काव्य का, शरीर की आत्मा की भाँति, सार रूप में स्थित होकर सहृदय जनों द्वारा प्रशंसा के योग्य जो अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान, ये दो भेद हैं।

लोचनम्

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—*काव्यस्य हीति*। *ललितशब्देन* गुणालङ्कारानुग्रहमाह। *उचितशब्देन* रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्ष्येदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः। *योऽर्थ* इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति। *तस्येत्यादिना* तदभ्युपगम एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—'चारुत्वहेतुत्वाद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम्। न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति

कारिका-भाग में आए हुए 'काव्य' शब्द को व्याकृत करने के लिए कहते हैं—काव्य का—। 'ललित' शब्द से गुण और अलङ्कार का अनुग्रह (सहायकत्व) कहा है। 'उचित'[1] शब्द से रसविषयक ही औचित्य होता है यह दिखाते हुए रसध्वनि का जीवितत्व सूचित करते हैं। भाव यह कि उस (रस) के अभाव में किस अपेक्षा से इस औचित्य को सब जगह उद्घोषित करते हैं? 'योऽर्थः' यह 'यत्' शब्द द्वारा अनुवाद करते हुए यह दिखाते हैं कि दूसरे ने भी इसे माना है। 'तस्य' इत्यादि द्वारा उसका स्वीकार (अभ्युपगम) ही दो अंशों के होने पर उपपन्न हो सकता है, यह दिखाते हैं। उस कारण जो कि कहा है—'चारुत्व के हेतु होने के कारण ध्वनि, गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त (पृथक्) नहीं है'; वहाँ यह दिखा दिया कि 'ध्वनि' के आत्मस्वरूप होने के कारण हेतु असिद्ध है। आत्मा शरीर के चारुत्व का

खड़ा किया था। इस प्रकार प्रस्तुत कारिका में आचार्य ने 'अर्थ' के रूप में उपक्रम करके 'सहृदय-श्लाघ्य' इस विशेषण 'विभाग' की दृष्टि से उस अर्थ के दो भेद बताये हैं न कि यह कहा है कि काव्य के दो आत्मा हैं।

१. यह 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' इस वृत्तिभाग का अनुवाद है। कुछ संस्करणों में इसे कारिका-भाग ही मानकर छापा है किन्तु 'लोचन' के अनुसार यह वृत्तिभाग है और 'ततो नेह प्रतन्यते' यह कारिका भाग।

ललित और उचित सन्निवेश से चारु काव्य—काव्य में ललित सन्निवेश की सिद्धि गुण और अलङ्कार के अनुग्रह से सम्भव होती है और उचित सन्निवेश तब बनता है जब 'रस' की स्थिति अनुकूल होती है। इसी से प्रकट होता है कि रसध्वनि आत्मा है, क्योंकि रस का औचित्य रस के

ध्वन्यालोकः

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः—
काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।
—ततो नेह प्रतन्यते ॥ ३ ॥
केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ॥ ३ ॥

अब जो वाच्य अर्थ उपमा आदि के प्रकारों से प्रसिद्ध है उसे अन्य लोगों ने बहुधा व्याख्यान किया है ।

काव्य के लक्षणकारों ने ।

उसकारण से यहाँ विस्तार नहीं करते हैं ॥ ३ ॥

केवल फिर उपयोग के अनुसार अनूदित करेंगे ॥ ३ ॥

लोचनम्

भवति । अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः । न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः । एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः । अत एव वक्ष्यति—'वाच्यः प्रसिद्धः' इति ॥ २ ॥

तत्रेति । द्व्यंशत्वे सत्यपीत्यर्थः । *प्रसिद्ध इति* । वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिर्लौकिक एवेत्यर्थः । 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधे'ति सङ्गतिः । *अन्यैरिति* कारिकाभागं *काव्येत्यादिना* व्याचष्टे । 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषप्रतिषेधेन शेषाभ्यनुज्ञेति दर्शयति—*केवलमित्यादिना* ॥ ३ ॥

हेतु नहीं होता है । अगर ऐसा हो भी जाता है तथापि वाच्य में हेतु [1]व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है, क्योंकि अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं होता । गुणी ही गुण नहीं होता । इस लिए भी वाच्य-अंश का त्याग है । अत एव कहेंगे—, वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है' ॥ २ ॥

अब— । अर्थात् दो अंशों वाला होने पर भी । प्रसिद्ध— । अर्थात् वनिता का मुख, उद्यान, चन्द्रोदय आदि लौकिक ही । 'उपमादि प्रकारों से वह बहुत प्रकार व्याकृत है' यह सङ्गति है । 'अन्य' इस कारिका-भाग की 'काव्य०' इत्यादि द्वारा व्याख्या करते हैं । 'उस कारण उसका यहाँ विस्तार नहीं करते हैं' इस प्रकार विशेष के प्रतिषेध द्वारा शेष की अभ्यनुज्ञा (अनुवाद) है, यह दिखाते हैं—केवल० इत्यादि ॥ ३ ॥

प्राधान्य में ही बन सकता है, अन्यथा जो ध्वनि नहीं स्वीकार करते हैं किसकी अपेक्षा करके औचित्य का उद्घोष करेंगे ? उनके यहाँ तो रस ही नहीं है ।

१. यहाँ भी वही प्रश्न है कि जब कारिका में वाच्य और प्रतीयमान दोनों एक अर्थ के भेद हैं फिर यह क्या कि वाच्य को काव्य की आत्मा की सीमा से बाहर कर देते हैं ? इसका समाधान पहले दिया जा चुका है, यहाँ केवल यह कहना है कि जो पहले अभाववाद के प्रसंग में चारुत्व का हेतु

ध्वन्यालोकः

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

महाकवियों के वचनों में प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है, जो वह प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त रूप में स्त्रियों में लावण्य की भाँति विशेष भासित होता है ॥४॥

प्रतीयमान (अर्थ) महाकवियों के वचनों में पुनः कोई अन्य ही वस्तु है। सहृदय जनों में सुप्रसिद्ध जो वह प्रसिद्ध अर्थात् अलङ्कृत अथवा प्रतीत अवयवों से सर्वथा अतिरिक्त रूप में स्त्रियों में लावण्य की भाँति प्रकाशित है। जैसे स्त्रियों में लावण्य पृथक् होकर दिखाई देता हुआ, सारे अङ्गों से व्यतिरेक (पार्थक्य) रखने वाला, कोई दूसरा ही सहृदय जनों की आँखों का अमृत, एक तत्त्व है उसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है।

लोचनम्

अन्यदेव वस्त्विति । पुनःशब्दो वाच्याद्विशेषद्योतकः । तद्व्यतिरिक्तं सारभूतं चेत्यर्थः । *महाकवीनामिति* बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह । एतदभिधास्य-

दूसरी ही वस्तु— । 'पुनः' शब्द वाच्य से विशेष का द्योतक है, अर्थात् (प्रतीयमान अर्थ) उस (वाच्य) से व्यतिरिक्त और सारभूत है। 'महाकवियों की' यहाँ बहुवचन सारे विषयों में (प्रतीयमान का) व्यापकत्व बताता है। भाव यह कि जिसकी चर्चा

होने के कारण ध्वनि गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त नहीं है। यह बात तो ध्वनि के आत्मा सिद्ध होने ही स्वयं खण्डित हो गई, क्योंकि आत्मा कभी शरीर का चारुत्वहेतु नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो भी यहाँ वाच्य अंश को तो छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि शरीरभूत वाच्य अर्थ अलङ्कार्य एवं गुणी होने से स्वयं किसी प्रकार अलंकार और गुण की कोटि में नहीं लाया जा सकता, अर्थात् वाच्य के अंश में चारुत्वहेतु रूप हेतु अनैकान्तिक (अर्थात् व्यभिचारी) हो जाता है, कहने का मतलब यह कि वाच्य को चारुत्व का हेतु बना कर गुण अथवा अलङ्कार के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं अलङ्कार्य एवं गुणी है। न्याय शास्त्र के अनुसार हेतु व्यभिचारी तभी होता है जब वह वहाँ भी चला जाय जहाँ साध्य का अभाव है, प्रस्तुत में वाच्य गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है, किन्तु हेतु चारुत्वहेतुत्व प्रतीयमान के साथ सम्बद्ध होने के कारण वाच्य में भी प्राप्त है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी प्रकार वाच्य को प्रतीयमान के समकोटिक नहीं बनाया जा सकता।

लोचनम्

मानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकवि-व्यपदेशो भवतीति भावः। यदेवंविधमस्ति तद्भाति। न ह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम्; रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति। अनेन सत्त्वप्रयुक्तं तावद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते। तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति। तेनायं प्रयोगार्थः—प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत्, तथा भासमानत्वात् लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत्। प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृ-

आगे की जायगी उस प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिभा का भाजन होने के कारण ही 'महाकवि' यह व्यपदेश (नाम) होता है। जिस कारण वह (प्रतीयमान) अर्थ इस प्रकार का (व्यतिरिक्त एवं सारभूत) है उस कारण प्रकाशित होता है। क्योंकि जो बिलकुल असत् है उसका भान उपपन्न नहीं, रजत आदि भी अत्यन्त असत् होकर भासित नहीं होता। इस कारण भान वस्तु के अस्तित्व से प्रत्युक्त होता है। इस प्रकार भान से (प्रतीयमान) का सत्त्व (अस्तित्व) अवगत होता है। इससे यह कहा गया कि जो प्रकाशित होता है वह उस प्रकार है। इसलिए यह प्रयोग रूप अर्थ हुआ—प्रसिद्ध जो वाच्य धर्मी है वह अपने से व्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त है, क्योंकि वह उस प्रकार भासित होता है, जैसे लावण्य से युक्त अङ्गना का अङ्ग। 'प्रसिद्ध' शब्द का अर्थ 'सबको प्रतीत होना' तथा 'अलंकृत होना' है। जो[1] वह—। यह दो

१. प्रस्तुत में आचार्य के सामने प्रतीयमान को 'सत्' सिद्ध करना है। जब कि आचार्य ने उसे 'सत्' सिद्ध करने के लिए उसका 'भान' होना ही प्रमाण बताया तब उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह प्रतीयमान, जिसका 'भान' हो रहा है, क्या कोई अपने अस्तित्व की पुष्टि में कोई अपना दृष्टान्त भी रखता है? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य ने कामिनियों के अङ्ग के लावण्य को प्रतीयमान का दृष्टान्त बनाया उनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लावण्य कामिनी के अङ्ग से अपृथग्भूत रहते हुए भी उससे भिन्न और कुछ विशेष चमत्कार की वस्तु सा प्रतीत होता है वही स्थिति यहाँ प्रतीयमान अर्थ की है, जो महाकवियों की वाणियों में वाच्य से कुछ अतिरिक्त ही भासित होता है। 'लावण्य' को केवल देख कर समझा जा सकता है, उसे व्यक्त करने के लिए किसी शब्द में सामर्थ्य नहीं, इसी लिए आचार्य ने उसके लिए दो सर्वनाम 'यत्-तत्' ('जो-वह') का प्रयोग किया और वृत्ति ग्रन्थ में 'किमपि' ('कुछ') के द्वारा उसकी व्याख्या की। इससे आचार्य को दो बातें लोचनकार के अनुसार अभिप्रेत है। एक तो यह कि जिस प्रकार लावण्य शब्द के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता, अर्थात् उसका व्यपदेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार प्रतीयमान भी वस्तुतः अव्यपदेश्य तत्त्व है (यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बात 'रसध्वनि' के अभिप्राय से कही गयी है)। दूसरे, आचार्य यह निर्देश करना चाहते हैं कि जिस प्रकार अङ्गना के अङ्ग और लावण्य में लोगों को सामान्यतः अव्यतिरेक या अभेद का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार वाच्य और प्रतीयमान में भी लोग भेदबुद्धि खो बैठते हैं और दोनों को एक ही समझने लगते हैं। इन दोनों बातों में प्रतीयमान को 'अव्यपदेश्य' निर्दिष्ट करने का लाभ यह है कि प्रतीयमान अर्थ लावण्य की भाँति ही एक चमत्कार सार तत्त्व है, बस उसे अनुभव ही किया जा सकता है।

लोचनम्

तत्वं चार्थः। *यत्तदिति* सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेश्यत्वमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति। एतच्च *किमपीत्यादिना* व्याचष्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्, पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।

ननु लावण्यं तावद् व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तदित्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथा भासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य *स ह्यर्थं* इत्यादिना स्वरूपं तस्याभिधत्ते। *सर्वेषु चेत्यादिना* च व्यतिरेकप्रथां

सर्वनामों का (प्रतीयमान अर्थ का) चमत्कार का सार होना प्रकट करने के लिए व्यपदेश (नामकरण) की अशक्यता एवं परस्पर मिश्रण से उत्पन्न (वाच्य और व्यङ्ग्य तथा अङ्गना का अङ्ग और लावण्य) दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अव्यतिरेक (अभेद) का भ्रम दिखाता है। और इसे 'कुछ' इत्यादि द्वारा व्याख्यान करते हैं। 'लावण्य'[1] तो वह धर्म-विशेष ही है जो अवयवों के संघटन (संस्थान) से अभिव्यक्त होकर अवयवों से व्यतिरिक्त (पृथक्) रहता है। अवयवों की निर्दोषता ही अथवा उनका भूषणों से संयोग 'लावण्य' नहीं है, क्योंकि जो पृथक् दिखाई देते हुए काणत्व आदि दोषों से शून्य स्त्री में सहृदय लोगों का व्यवहार 'यह लावण्यशून्य है' यह होता है और जो उस प्रकार की नहीं है उस किसी स्त्री में (उनका यह व्यवहार होता है कि) यह लावण्यरूपी अमृत की चन्द्रिका है।

लावण्य तो (अङ्गों से) व्यतिरिक्त रूप में प्रसिद्ध है, (किन्तु) वह प्रतीयमान क्या है, यही नहीं जानते, व्यतिरेक (भेद) की स्थिति तो दूर रहे! उस प्रकार भासमानत्व रूप हेतु असिद्ध[2] है, यह आशङ्का करके 'वह अर्थ' इत्यादि द्वारा उस (प्रतीयमान) अर्थ का स्वरूप कहते हैं। 'और सब उनके प्रकारों में' इत्यादि द्वारा

१. 'लावण्य' के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध श्लोक यहाँ स्मरणीय है—

मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

अर्थात् मुक्ताओं में जो छाया की तरलता की भाँति अङ्गों में कुछ झलकता या दिपता हुआ मालूम पड़ता है वह 'लावण्य' कहलाता है।

२. ऊपर प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए 'भासमानत्व' को 'हेतु' दिया गया है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ इसलिए है क्योंकि वह भासित होता है, किन्तु हम यदि यहाँ यह कहें कि यह हेतु 'असिद्ध' है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि इससे नहीं होगी ऐसी स्थिति में क्या समाधान है? न्याय-शास्त्र में 'हेतु' के पाँच दोष बताये गये हैं जिनमें 'असिद्धि' भी एक दोष है। पाँच दोषों में किसी एक की भी हेतु में शङ्का मात्र के हो जाने पर उस 'हेतु' से साध्य का निर्णय नहीं किया जा सकता।

लोचनम्

साधयिष्यति। तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः, काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति।

व्यतिरेक की स्थिति को सिद्ध करेंगे। प्रतीयमान के दो भेद हैं—लौकिक और काव्यव्यापारैकगोचर। लौकिक वह है जो कभी स्वशब्दवाच्य होने की स्थिति को प्राप्त करता है; वह विधि-निषेध आदि अनेक प्रकार का होता और 'वस्तु' शब्द से कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का है—जो पहले (वाच्य की अवस्था में) किसी वाक्यार्थ में उपमादिरूप से अलङ्कारभाव को प्राप्त हुआ; इस समय (व्यङ्ग्य होने की अवस्था में) अलङ्काररूप नहीं ही है, क्योंकि अन्यत्र (वाक्यार्थ में) जो उसका गुणीभाव हो जाता था वह नहीं होता। वह पूर्व प्रत्यभिज्ञान (पूर्व ज्ञात का पुनः ज्ञान) के बल से 'अलङ्कारध्वनि' के नाम से 'ब्राह्मणश्रमणन्याय'[1] के अनुसार व्यपदिष्ट होता है। उस रूप के (अलङ्काररूप के) अभाव से उपलक्षित वह 'वस्तुमात्र' कहा जाता है। ('वस्तु' के साथ) 'मात्र' को ग्रहण करके दूसरे (अलङ्कार) रूप का निराकरण किया है। जो स्वप्न में भी स्वशब्द से वाच्य नहीं होता और लौकिक के अन्तर्गत नहीं आता। किन्तु शब्दों द्वारा समर्प्यमाण और सहृदयों के हृदय से संवाद (संगति) रखने के कारण सुन्दर विभाव-अनुभाव उनकी समुचित एवं पहले से (आत्मा में विशेषरूप से) रहनेवाली रत्यादि वासनाओं के अनुराग (उद्बोध) के द्वारा सुकुमार एवं सहृदय की संवित् (मन) का, आनन्दमय चर्वणारूप व्यापार के

१. ब्राह्मणश्रमणन्याय—ब्राह्मण जाति का कोई व्यक्ति जब श्रमण अर्थात् बौद्ध भिक्षु बन जाता है तब वह 'ब्राह्मण' नहीं रह जाता, फिर भी पूर्वज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) के बल से उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। यही प्रस्तुत न्याय का अभिप्राय है। प्रस्तुत में 'अलङ्कारध्वनि' इस व्यपदेश को लेकर प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि जब प्रतीयमान उपमादिरूप से पहले कहीं वाच्य होकर भी अब वही चमत्कारी होने के कारण वाच्य की अपेक्षा प्रधान हो जाता है ऐसी स्थिति में वह किसी का अलङ्कार न होकर स्वयं अलङ्कार्य की स्थिति में पहुँच जाता है, फिर उसे 'अलङ्कारध्वनि' के नाम से क्यों व्यपदिष्ट किया जाता है? प्रस्तुत 'ब्राह्मणश्रमण' न्याय इसी प्रश्न का समाधान है। कहने का तात्पर्य यह कि वह प्रधानभूत अलङ्कार्य ही यहाँ पूर्वप्रत्यभिज्ञान के बल से 'अलङ्कार' कहा गया है।

ध्वन्यालोकः

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

वह अर्थ वाच्य के सामर्थ्य से वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस आदि के, आक्षिप्त होकर अनेक प्रभेदों से प्रभिन्न रूप में दिखाया जायगा। और समस्त उन प्रकारों में वह वाच्य से अतिरिक्त है। जैसा कि पहला प्रभेद वाच्य से बहुत दूर तक का भेद रखने वाला है। क्योंकि वह कभी वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर प्रतिषेध रूप होता है। जैसे—

लोचनम्

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपलम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः, रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्, वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्। *वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमिति*

द्वारा रसन (आस्वादन) के योग्य रस[1] है। काव्य के व्यापार का एकमात्र गोचर 'रसध्वनि' है और वह ध्वनि ही (ध्वनिमात्र) है, वही मुख्यरूप से आत्मा है।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—'अंशत्व है रूपता[2] नहीं' यदि वह वस्तुध्वनि और

१. 'आगे 'रस' का विशद रूप से सैद्धान्तिक विवेचन होगा, किन्तु प्रस्तुत 'रसध्वनि' के प्रसंग में 'रस' का सामान्य रूप आचार्य अभिनवगुप्त ने एक ही 'समास' में व्यक्त कर दिया है। यहाँ प्रयुक्त 'शब्दसमर्प्यमाण', 'हृदयसंवाद', 'सुन्दर', 'विभावानुभावसमुचित', 'प्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुराग', 'सुकुमार', 'स्वसंविदानन्द', 'चर्वणाव्यापार' ये शब्द 'रससिद्धान्त' की विशेष परिभाषा के अनुकूल हैं। जैसा कि आचार्य भरतमुनि का प्रसिद्ध 'रससूत्र' है—'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः', इसकी लोचनकार-सम्मत व्याख्या के अनुसार सहृदय के हृदय में जन्म-जन्मान्तर की वासना या संस्कार रूप से रति आदि स्थायी भाव विद्यमान होते हैं, काव्य के शब्दों से विभाव-अनुभाव को ग्रहण करके सहृदय अपने हृदय के साथ उनका संवाद कर लेता है, इस प्रकार सहृदय के रत्यादि और काव्य के द्वारा अर्पित विभावानुभाव आदि से सहृदय के सुकुमार आनन्दमय चित्त का उद्बोध होता है, इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में चर्वणारूप व्यापार कहते हैं, इस स्थिति में पहुँचते ही सहृदय जो एक प्रकार का विशेष आस्वादन अनुभव करता है वही 'रस' कहलाता है। 'रस' की स्थिति में स्वशब्दवाच्यता का जरा भी सम्पर्क नहीं होता, इसलिए इसे सर्वथा अलौकिक ही कहते हैं, दूसरे यह 'ध्वनि' ही है, इसमें न तो वस्तु है और न अलंकार। अतः 'रसध्वनि' को ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा का व्यवहार है, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि में आत्मव्यवहार औपचारिक है।

२. भट्टनायक का यह पूरा श्लोक पहले 'लोचन' में आ चुका है—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता॥

ध्वन्यालोकः

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

'बाबा जी, तुम इतमीनान से घूमो । वह कुत्ता गोदावरी नदी के लता गहन में रहने वाले पागल शेर द्वारा आज मार डाला गया ।'

लोचनम्

भेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम् । यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वम् । शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्येऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः । दूरं *विभेदवानिति* । विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः । एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ॥'

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषा-

अलङ्कारध्वनि का ही सम्भवतः उपालम्भ है तो (ऐसी स्थिति में) उन्होंने ही 'रसध्वनि' को आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनका निर्णय है कि रस-चर्वणारूप तीसरा अंश अभिधा और भावनारूप दो अंशों से अतिरिक्त (उत्तीर्ण) है । वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का रसध्वनि में ही पर्यवसान है यह हम ही उन-उन स्थलों में कहेंगे, बस । 'वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त' यह (वस्तु, अलङ्कार और रस) इन तीनों भेदों में व्याप्त रहनेवाला सामान्य लक्षण[1] है । यद्यपि ध्वनन शब्द का ही व्यापार है, तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य के सब जगह विद्यमान होने से वाच्य-सामर्थ्याक्षिप्तत्व है । शब्दशक्तिमूल अनुरणनव्यङ्ग्य में भी अर्थ की सामर्थ्य से ही प्रतीयमान का ज्ञान होता है, शब्दशक्ति केवल अवान्तर सहकारिणी होती है, यह कहेंगे । 'बहुत दूर तक भेद रखनेवाला—' । विधि और निषेध के परस्पर विरोध में किसी की विमति नहीं है । एतदर्थ पहले उन्हें ही उदाहृत करते हैं—

'बाबा जी, तुम इतमीनान से घूमो । वह कुत्ता गोदावरी नदी के लतागहन में रहनेवाले पागल शेर द्वारा आज मार डाला गया ।'

प्राणों के सर्वस्व अपने सङ्केत स्थानकी, धार्मिक (बाबाजी) के संचाररूप विघ्न के

अर्थात् ध्वनि नाम का जो अन्य व्यञ्जना रूप व्यापार है उसका (वाच्य से) भेद सिद्ध होने पर भी काव्य में अंशत्व होगा रूपता या अंशित्व (आत्मत्व) नहीं ।

१. लोचनकार का तात्पर्य यह है कि यहाँ ग्रन्थ में 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त' को नपुंसक विशेषण समझ कर कोई भ्रम से केवल इसे 'वस्तुमात्र' में अन्वित न करने लग जाय, बल्कि यह वस्तु, अलङ्कार और रसादि इन तीनों में अनुगत सामान्य रूप है । लिङ्ग और वचन का विपरिणाम करके सबके साथ इसका अन्वय बैठा लेना चाहिए।

लोचनम्

त्तदवलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः; अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्ययं लोट्। तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

दोष एवं उसके तोड़े जाते हुए फूल-पत्तों से छायाहीन कर देने के कार्य से, रक्षा के निमित्त किसी स्त्री की यह उक्ति है। वहाँ, बाबाजी का स्वतःसिद्ध भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध होने से यहाँ विधि प्रतिप्रसवरूप', अर्थात् निषेधाभावरूप है, न कि प्रैषादिरूप नियोग है। ('भ्रम' पद का) जो यह 'लोट्' लकार है वह अतिसर्ग और प्राप्तकाल के अर्थ में हुआ है। भाव और अभाव में विरोध होने से दोनों की युगपत्' (एक समय में) वाच्यता नहीं है। एवं क्रम से (भी) नहीं, क्योंकि विराम होने पश्चात् व्यापार नहीं होता। जैसा कि '(विशेषण में क्षीणशक्ति हो जाने के कारण फिर) अभिधा विशेष्य तक नहीं पहुँचती' इत्यादि द्वारा अभिधा व्यापार के विरत हो जाने पर व्यापार का असम्भव कहा गया है।

१. नायिका पुंश्चली एवं प्रगल्भा है। उसके प्राणसमान प्रिय सङ्केतस्थान पर कोई धार्मिक बाबाजी अपनी असामयिक उपस्थिति से विघ्न तो उत्पन्न करने ही लगे साथ ही वहाँ की फूल-पत्तियाँ भी तोड़-तोड़ कर उस स्थान को नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। उससे न रहा गया तो उसने चाल चलते हुए उनसे प्रार्थना की कि वे इतमीनान से अब घूमें, क्योंकि गोदावरी तट के रहने वाले मतवाले सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है। बाबाजी एक तो कुत्ते से ही परेशान थे अब सिंह पहुँच आया। यहाँ घूमो या 'भ्रम' में लोट् लकार 'विधि' अर्थ का सूचक है, किन्तु यहाँ 'विधि' नियोग या आज्ञारूप नहीं है, क्योंकि वह पुंश्चली धार्मिक को आज्ञा नहीं दे रही है कि वह भ्रमण करे, बल्कि वह तो स्वयं भ्रमण कर रहा है, उसका भ्रमण स्वतः सिद्ध है। पुंश्चली धार्मिक के भ्रमण का विधान प्रतिषेधक तत्त्व जो कुत्ते का भय था, उसके अभाव द्वारा करती है. इसलिए यहाँ 'विधि' प्रतिषेधाभाव या 'प्रतिप्रसव' रूप है। इस प्रकार यहाँ 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (३.३.१०३) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अतिसर्ग या प्राप्तकाल में 'लोट्' हुआ है। 'अतिसर्ग' अर्थात् कामचार या स्वेच्छा-विहार।

२. प्रस्तुत उदाहरण में 'घूमो' इस विधिरूप अर्थ के बाद ही 'मत घूमो' यह जो निषेध रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, यहाँ यह कहना गलत होगा कि दोनों विधि-निषेध रूप अर्थ जब कि ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं, एक ही समय में (युगपत्) वाच्य हो रहे हैं, क्योंकि अभिधा जब एक विधिरूप अर्थ को बता चुकी तब उसकी प्रवृत्ति पुनः निषेध रूप अर्थ में नहीं होगी—यह नियम है कि कार्य करके विरत हो जाने पर व्यापार नहीं होता—**विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।**' शब्द के सङ्केतित अर्थ के अभिधान में जो व्यापार होता है वह 'अभिधा' कहलाता है। इस प्रकार यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि 'निषेध' रूप अर्थ (क्योंकि यह अर्थ 'संकेतित' नहीं है) के बोध के लिए किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना आवश्यक है, वह 'शक्ति' व्यञ्जना हो सकती है और इससे प्रतीत निषेध रूप अर्थ 'व्यङ्ग्य' होगा।

लोचनम्

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूपमुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेधप्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहारः, तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।

नैतत्; त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्यभिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्।

तात्पर्य-शक्ति[1] (भ्रमण की विधि में) पर्यवसित न होने के कारण विवक्षा होने से 'मतवाला', 'धार्मिक' (बाबाजी), 'वह' आदि पदार्थों के अनन्वयरूप मुख्यार्थ के बाध के बल से और विरोध के निमित्त वाली विपरीतलक्षणा से अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से वाक्यार्थीभूत निषेध की प्रतीति (उत्पन्न) करती है, इस प्रकार वह अर्थ शब्दशक्तिमूलक ही है। 'इस प्रकार इसने कहा' यह व्यवहार है। इसलिए अन्य अर्थ वाच्य से अतिरिक्त नहीं है!

यह[2] नहीं; क्योंकि यहाँ तीन व्यापार जाने जाते हैं। सामान्यरूप पदार्थों में अभिधा व्यापार होता है, क्योंकि समय (सङ्केत) की अपेक्षा से अर्थ के बोध की शक्ति 'अभिधा' है और 'समय' उतने में ही होगा, न कि विशेष अंश (व्यक्ति) में, क्योंकि एक (विशेष व्यक्ति) का आनन्त्य और व्यभिचार है। इस कारण परस्पर अन्वित विशेषरूप वाक्यार्थ में तात्पर्यशक्ति है, क्योंकि न्याय है—'विशेष के विना सामान्य की

---

१. **अभिहितान्वयवाद और तात्पर्य-शक्ति**—यहाँ यह विचारणीय है कि भ्रमणनिषेध के अर्थ में यदि प्रकारान्तर से शब्द की शक्ति 'अभिधा' से ही काम चल सकता है तब भिन्न शक्ति की कल्पना अनावश्यक होगी। एक मीमांसक होते हैं जो 'अभिहितान्वयवादी' कहलाते हैं, उनके अनुसार वाक्यार्थ वही होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य हो। इस प्रकार 'तात्पर्य' शक्ति से वे लोग वाक्यार्थ का बोध करते हैं और पदार्थ-बोध के लिए 'अभिधा' का उपयोग करते हैं। प्रस्तुत में, वक्त्री पुंश्चली नायिका का तात्पर्य भ्रमण के निषेध में है, अर्थात् भ्रमण-निषेध यही वाक्यार्थ है। यहाँ मुख्य अर्थ का बाध इस प्रकार होता है कि 'मतवाला' 'धार्मिक' और 'वह' आदि का अन्वय मुख्य अर्थ के साथ नहीं बनता। इस प्रकार यहाँ पदार्थों के अन्वय का अभाव रूप मुख्य अर्थ का बाध हो रहा है, इस बल से विपरीतलक्षणा उपस्थित होती है और तात्पर्य-शक्ति को, जो भ्रमण-विधि में पर्यवसान नहीं प्राप्त कर रही थी, सहायता पहुँचाती है और वह भ्रमण-निषेध की प्रतीति उत्पन्न करती है। तात्पर्यशक्ति और लक्षणा दोनों अभिधा के ही आश्रित शक्तियाँ हैं, अतः भ्रमण-निषेध रूप अर्थ अभिधामूलक ही है और इस प्रकार वह वाच्य से अतिरिक्त नहीं है यह बात सिद्ध हुई।

२. **विपरीतलक्षणा का ही अवसर नहीं, अतः तात्पर्य-शक्ति से 'भ्रमण-निषेध' का ज्ञान नहीं होगा**—उपर्युक्त 'अभिहितान्वयवाद' के अनुसार 'तात्पर्यशक्ति' का खण्डन करते हुए आचार्य ने 'विपरीतलक्षणा' को ही यहाँ अप्रसक्त बताया, क्योंकि लोक में तीन व्यापार—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा हैं। अभिधा से सामान्य या जाति का बोध होता है वह भी 'सङ्केत' (समय) की

लोचनम्

तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे'ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। न हि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो वटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्; तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः, तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

भवतु वाऽसौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति। तथा हि—मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। न चात्र सिद्धि नहीं होने के कारण सामान्य विशेष का वोधन करते हैं'। उस दूसरी कक्ष्या में 'घूमो' इस विधि के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि केवल अन्वय प्रतीत होता है। 'गङ्गायां घोषः' और 'सिंहो वटुः' इन स्थलों में जिस प्रकार अन्वय ही होना चाहता हुआ, योग्यता के अभाव के कारण प्रतिहत हो जाता है, उस प्रकार 'तुम्हारे भ्रमण का निषेध करनेवाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मार डाला गया, अतः इस समय भ्रमण-निषेध के कारण के अभाव में तुम्हारा भ्रमण उचित है' इस अन्वय में कोई क्षति (वाधा) नहीं है। अतएव मुख्यार्थवाधा की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार विपरीतलक्षणा का अवसर नहीं।'

अथवा वह लक्षणा हो। तव भी वह दूसरे स्थान में संक्रान्त नहीं हो सकती। जैसा कि मुख्य अर्थ की वाधा होने पर लक्षणा की कल्पना होती है। और, वाधा-विरोध की प्रतीति ही है। यहाँ पदार्थों का अपने-आपमें विरोध नहीं है। अगर परस्पर

सहायता से। अर्थात् अभिधा से 'गोत्व' सामान्य का ज्ञान होगा न कि 'गौ' रूप विशेष का। विशेष में अभिधा को स्वीकार करने पर, आनन्त्य और व्यभिचार दोष उपस्थित होते हैं, क्योंकि विशेष एक नहीं अनन्त होता है अतः सब में 'सङ्केत' सम्भव नहीं होगा और दूसरे, जिस गोविशेष के साथ सङ्केत का ग्रहण नहीं हुआ है उसका भी 'गो' पद से बोध होने की स्थिति में 'व्यभिचार' होगा। इसलिए 'सामान्य' या 'जाति' में ही अभिधा को माना गया है। दूसरी तात्पर्य-शक्ति विशेष रूप परस्पर अन्वित वाक्यार्थ में होती है। इस प्रकार तात्पर्य-शक्ति के द्वारा पदार्थों के परस्पर अन्वय के अतिरिक्त कुछ प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार 'गङ्गायां घोष' आदि लक्षणा के क्षण हैं उस प्रकार प्रस्तुत पद्य लक्षणा-विषय नहीं है, क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' आदि में परस्पर अन्वय ही नहीं बन पाता, क्योंकि प्रवाह रूप गङ्गा में 'घोष' के धारण करने की 'योग्यता' नहीं है, किन्तु प्रस्तुत में तो 'अन्वय' अप्रतिहत रूप से बन जाता है, क्योंकि जब सिंह के द्वारा कुत्ता मार डाला गया, जिसके कारण भ्रमण में बाधा होती थी, तब भ्रमण उचित ही है। इस प्रकार अन्वय के उपपन्न हो जाने की स्थिति में मुख्यार्थ-बाधा की शङ्का ही नहीं होनी चाहिए। 'विपरीत-लक्षणा' का यह तभी प्रसंग होता जब कि परस्पर अन्वय के प्रतिहत होने पर मुख्यार्थ की बाधा होती।

अन्ततः, 'भ्रमण-निषेध' रूप अर्थ की प्रतीति के लिए अतिरिक्त 'ध्वनन' व्यापार मानना ही पड़ेगा। (कुछ लोग भ्रम से तात्पर्य-शक्ति को 'तात्पर्या' शक्ति के नाम से लिखने लगे हैं, यह सर्वथा अमान्य है, जहाँ तक मैं समझता हूँ, किसी प्राचीन आचार्य ने 'तात्पर्या' प्रयोग नहीं किया है)।

लोचनम्

पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इति चेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।

नन्वेवं 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात्। किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम्। 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत् तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।

विरोध है तो वह विरोध अन्वय में प्रतीत होना चाहिए। और, अन्वय (सम्बन्ध) के ज्ञात न होने पर विरोध की प्रतीति नहीं हो सकती और अन्वय का ज्ञान अभिधा-शक्ति से नहीं होगा, क्योंकि पदार्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाने पर वह उपक्षीण (नष्ट) हो जाती है, फिर विरत होने पर व्यापार नहीं होता। इस प्रकार तात्पर्य-शक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति[1] होती है।

(शङ्का) इस प्रकार तो 'अंगुलि के अग्रभाग में सैकड़ों हाथी' इस वाक्य में भी अन्वय[2]-प्रतीति हो जायगी ! (समाधान) क्या 'दशदाडिमादि' (महाभाष्य के) वाक्य की भाँति अन्वय की प्रतीति नहीं होगी ? किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से वह अन्वय ज्ञात होकर भी, शुक्ति में रजत की भाँति बाधित है, इस कारण उसके ज्ञान करानेवाले वाक्य का प्रामाण्य नहीं है। 'सिंहो माणवकः' यहाँ दूसरी कक्ष्या में रहनेवाली तात्पर्य-शक्ति से समर्पित अन्वय के बाधक (विरोध) के उल्लास के पश्चात् अभिधा और तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से अतिरिक्त, लक्षणा नाम की तीसरी ही शक्ति उस बाधक के बाधन में निपुण समुल्लसित (प्रवृत्त) होती है।

१. किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि यहाँ लक्षणा का अवसर है। परन्तु मुख्यार्थ की बाधा या विरोध-प्रतीति कहाँ हो रही है ? आपस में यहाँ पदार्थों का विरोध नहीं है, परस्पर विरोध है तो अन्वय में विरोध होगा। परन्तु जब तक अन्वय की प्रतीति नहीं हो जाती तब तक विरोध की प्रतीति भी सम्भव नहीं। और यह पहले कहा ही जा चुका है कि अभिधा शक्ति 'अन्वय' में प्रवृत्त नहीं हो सकती, फिर 'तात्पर्य-शक्ति' से ही अन्वय की प्रतीति करनी होगी। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति भी अन्वय की प्रतीति अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान ही करने में कृतकार्य हो जाती है फिर अतिरिक्त अर्थ 'भ्रमण-निषेध' उसकी सीमा से बाहर हो जाता है।

२. 'ऊपर' जो बाधित स्थल में भी तात्पर्य-शक्ति से अन्वय-प्रतीति को आपने स्वीकार किया है तब 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' में भी वही स्थिति आपको स्वीकार होगी। इस शङ्का का भी समाधान स्वीकृत्यात्मक ही है। आचार्य का कहना है कि जहाँ तक अन्वय या वाक्यार्थ का ज्ञान है वह तो महाभाष्य के 'दशदाडिमादि' वाक्य की भाँति होगा ही। 'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः, अधरोरुकमेतत् कुमार्याः, स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' इति (महाभाष्य, १. २. ४५)। किन्तु शुक्ति में रजत का ज्ञान हो जाने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से

लोचनम्

नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्; ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतया भावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्; आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत्—गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम्। न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी। चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः। तथा हि—त्रितयसन्निधौ लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति। तत्र मुख्यार्थबाधा तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। निमित्तं च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तरावगम्यमेव।

(शङ्का) इस प्रकार 'सिंहो वटुः' इस स्थल में भी काव्य की स्वरूपता[1] होगी, क्योंकि यहाँ भी ध्वननरूप आत्मा की, तुरत वक्ष्यमाण होने के कारण स्थिति है। तब तो घट में भी जीव का व्यवहार होगा, क्योंकि आत्मा के विभु (सर्वत्र व्याप्त) होने के कारण (उसमें) भी अस्तित्व है! (यदि कहिए कि) शरीर जब विशिष्ट प्रकार के (इन्द्रिय, मन, अङ्ग आदि) अधिष्ठानों से युक्त होता है और उसमें आत्मतत्त्व रहता है तब जीव का व्यवहार होता है, जिस किसी का नहीं—तो (इधर भी कह सकते हैं कि) गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर शब्द और अर्थ के शरीर का ध्वननाख्य आत्मा के होने पर काव्यरूपता व्यवहार है। आत्मा की कोई असारता नहीं, यह दोनों में बराबर है। इस प्रकार भक्ति ही ध्वनि नहीं, क्योंकि 'भक्ति' रूप लक्षणा व्यापार तृतीय कक्ष्या में होता है। चौथी कक्ष्या में तो ध्वनन व्यापार होता है। जैसा कि, तीनों—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन के सन्निधान में लक्षणा व्यापार प्रवृत्त है यह तो आप ही कहते हैं। वहाँ मुख्यार्थ का बाध प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से होता है। और जो कि सामीप्य आदि निमित्त का अभिधान करते हैं वह भी प्रमाणान्तर के द्वारा ही बोध्य है।

बाधित हो जाता है उसी प्रकार 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्०' इत्यादि वाक्य अपने ज्ञात होने के पश्चात् उत्पन्न बाधज्ञान से विशिष्ट होने के कारण प्रमाण नहीं होंगे। पुनः शङ्का करते हैं कि तब तो 'सिंहो माणवकः' इत्यादि वाक्य भी प्रमाण नहीं होंगे, क्योंकि अन्वय-बोध के पश्चात् इनका भी बाध हो जायगा, इसके समाधान में आचार्य का कहना है कि द्वितीय कक्ष्या में जब तात्पर्य शक्ति के द्वारा अन्वय-बोध यहाँ होता है तब बाधक रूप विरोध की प्रतीति उत्पन्न होती है जिसके निराकरणार्थ तृतीय शक्ति 'लक्षणा' ही समुल्लसित होती है।

१. यहाँ शङ्का यह खड़ी हुई कि जब 'ध्वनन' को ही 'काव्यात्मा' माना जाय तो 'सिंहो वटुः' इस स्थल में भी 'काव्य' का व्यवहार होगा, क्योंकि 'प्रयोजन', जो 'प्रतीयमान' होने वाला है वह यहाँ भी है। इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि तब 'घट' में भी जीव-व्यवहार प्रसक्त होना चाहिये, क्योंकि व्यापक आत्मा की स्थिति घट में भी है ही। तब यदि यह कहा जायगा कि मन और इन्द्रियों के अधिष्ठान से युक्त शरीर में आत्मा के होने पर जीव-व्यवहार होता है तब हम भी

लोचनम्

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तर-वाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथाहि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंह-शब्दवाच्यत्वं च वटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग

जो कि यह घोष का अतिपवित्रत्व, अतिशीतलत्व और अतिसेव्यत्व आदि प्रयोजन, (लाक्षणिक शब्द से) अतिरिक्त शब्द द्वारा अवाच्य एवं (शब्द से) अतिरिक्त प्रमाण के द्वारा अज्ञात है, अथवा 'वटु' का अतिशयपराक्रमशालित्व (प्रयोजन) है, वहाँ शब्द का व्यापार नहीं है ऐसा नहीं[1]। जैसा कि ('गङ्गायां घोषः' इस स्थल में) 'तत्सामीप्य' के हेतु से तद्धर्मत्व का अनुमान[2] अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। और, 'वटु' का 'सिंह' शब्दवाच्यत्व हेतु असिद्ध (स्वरूपासिद्ध) है। (यदि कहते हैं कि) जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का योग है, यह

यही उत्तर देंगे कि गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर शब्दार्थ-शरीर जब ध्वनन रूप आत्मा से युक्त होता है तभी 'काव्य' व्यवहार है। इससे तो कोई आत्मा की असारता व्यक्त नहीं होती है। दूसरे यह भी कि भक्ति ही ध्वनि है, गलत पक्ष है, क्योंकि भक्ति लक्षणा-व्यापार है और तृतीय कक्ष्या में यह व्यापार होता है। अर्थात् प्रथम कक्ष्या में अभिधा-व्यापार दूसरी में तात्पर्य-शक्ति और तीसरी में लक्षणा और ध्वनन-व्यापार चतुर्थ कक्ष्या में होता है। इस प्रकार न तो 'सिंहो वटुः' इत्यादि 'काव्य' की श्रेणी में आयेंगे और न तो भक्ति या लक्षणा ही 'ध्वनि' सिद्ध होगी।

१. प्रसङ्ग यह प्राप्त है कि आखिर यहाँ 'प्रयोजन' को क्या समझा जाय? इसके उत्तर में आचार्य को सिद्ध करना है कि यह 'प्रयोजन' सर्वथा शब्द के व्यापार का विषय है। इसीलिये आचार्य दृढ़ होकर कहते हैं कि शब्द का व्यापार नहीं है ऐसा नहीं, अर्थात् सर्वथा शब्द का ही व्यापार है। इसके शब्द-व्यापार के विषय होने के दो मुख्य कारण हैं, पहला यह कि प्रयोजन 'अशब्दान्तर वाच्य' है, अर्थात् लाक्षणिक शब्द ही, जैसे प्रस्तुत में 'गङ्गा' 'सिंह' आदि शब्द, 'प्रयोजन' का प्रतिपादन कर सकते हैं, तथा दूसरा कारण यह है कि 'शब्द' के अतिरिक्त किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता है। इसी उद्देश्य से आचार्य ने आगे की पंक्तियों में 'अनुमान' और 'स्मृति' की आशङ्का करके इनकी विषयता का निराकरण किया है तथा शब्द-व्यापारों में अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा का भी निराकरण करके इन शब्द-व्यापारों से अतिरिक्त चतुर्थ 'ध्वनन' व्यापार को माना है।

२. 'गङ्गायां घोषः' और 'सिंहो वटुः' इन स्थलों में प्रतीयमान 'प्रयोजन' को 'अनुमान' प्रमाण का विषय माना जा सकता है अथवा नहीं यह विचारणीय है। आचार्य का सिद्धान्त पक्ष यह है कि यहाँ 'अनुमान' नहीं हो सकता, क्योंकि पहले स्थल में 'व्यभिचार' है और दूसरे में 'असिद्धि' कैसे? प्रथम स्थल में 'अनुमान' का रूप यह होगा—'तीरं गङ्गागतातिपवित्रत्वादिधर्मवत्, गङ्गासामीप्यात्', इस प्रकार का 'अनुमान' करने वाला यह कहना चाहता है कि जो वस्तु गङ्गा के समीप होती है वह गङ्गा के समान ही पवित्र आदि होती है, गङ्गा के प्रायः सभी गुण उसमें संक्रान्त हो जाते हैं, इसका उदाहरण मुनिजन हैं, जो गङ्गा के समीप रहते हैं और पवित्र होते हैं। किन्तु यहीं यह प्रतिकूल तर्क क्यों न उपस्थित किया जाय कि शिर की खोपड़ी भी तो गङ्गा के समीप रह सकती है, किन्तु वह अति पवित्र नहीं है, ऐसी स्थिति में 'गङ्गा-सामीप्य' को हेतु मानकर अतिपवित्रत्व आदि को सिद्ध करना व्यभिचार-दोषग्रस्त है। इसी को आचार्य ने 'अनैकान्तिक' कहा है।

लोचनम्

इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि हि

अनुमान होगा। उसका भी व्याप्ति-ग्रहण के समय मौलिक प्रमाण कहना चाहिए, पर है नहीं। न कि यह स्मृति[1] है, अननुभूत में क्योंकि उसका योग नहीं और नियम का ज्ञान न होने के कारण 'वक्ता का यह विवक्षित है' इस अध्यवसाय का अभाव-प्रसङ्ग है। इसलिए यहाँ शब्द का ही व्यापार है। और (यहाँ) व्यापार अभिधारूप नहीं है, क्योंकि 'समय' (सङ्केत) का अभाव है। और तात्पर्यरूप व्यापार नहीं है, क्योंकि वह 'अन्वय' (सम्बन्ध) का बोध होने पर ही परिक्षीण हो जाता है। लक्षणा रूप (व्यापार) नहीं है, क्योंकि कहे हुए कारण से ही स्खलद्गतित्व[2] का अभाव है।

दूसरे स्थल में 'सिंहो माणवकः' में अनुमान का रूप यह होगा—वटुः सिंहधर्मवान् सिंहशब्दवाच्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नसिंहवत्; यहाँ हेतु 'स्वरूपासिद्ध' है, क्योंकि 'सिंह' शब्द से 'वटु' वाच्य नहीं होता। इसी प्रकार इन स्थलों में कोई अन्य प्रकार का अनुमान भी, जैसे 'जहाँ-जहाँ ऐसा प्रयोग होता है वहाँ उसके धर्म का योग होता है' यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनुमान तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक कि व्याप्ति-ग्रहण के समय मौलिक प्रमाणान्तर नहीं हो। प्रस्तुत में, जो भी व्याप्ति सामान्य को लेकर की जायगी वह प्रामाणिक नहीं होगी; क्योंकि व्याप्ति-ग्रह का प्रयोजन कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अनुमान प्रमाण का विषय किसी प्रकार 'प्रयोजन' को नहीं बनाया जा सकता।

१. आचार्य लिखते हैं कि यह 'स्मृति' नहीं है, अर्थात् गङ्गागत शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजन के ज्ञान को 'स्मृति' भी नहीं कहा जा सकता, अर्थात् 'प्रयोजन' स्मृति का भी विषय नहीं बन सकता, क्योंकि स्मृति उसकी होती है जो पहले कभी अनुभूत हो चुका हो। यहाँ ऐसा कोई पूर्वानुभव विद्यमान नहीं है जिसके आधार पर 'स्मृति' होगी। कथञ्चित् भी स्मृति को यहाँ लाया नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कोई यहाँ नियामक नहीं है जिसके बल से यह समझा जाय कि वक्ता का यही विवक्षित है। अन्ततः जब कि अनुमान भी नहीं और स्मृति भी नहीं, तो स्वीकार करना होगा कि यहाँ शब्द का ही व्यापार है।

२. यहाँ शब्द का व्यापार न 'अभिधा' है, न 'तात्पर्य' है और न 'लक्षणा' है। 'अभिधा' तो इसलिये नहीं है कि गङ्गा शब्द का 'समय' या संकेत शैत्य-पावनत्व में नहीं मिलता, 'तात्पर्य' इसलिये नहीं है कि वह केवल अन्वय या परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति होते ही समाप्त हो जाता है और लक्षणा व्यापार भी यहाँ नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ-बाध आदि हेतु, जो कहा जा चुका है सो यहाँ अवगमन रूप व्यापार स्खलित या प्रतिहत नहीं हो रहा है। 'स्खलद्गतित्व' अर्थात् स्वार्थ-भ्रंश। लक्षणा-व्यापार वहीं होता है जहाँ स्खलद्गतित्व या स्वार्थभ्रंश होता है। स्पष्टीकरण यह कि 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में 'गङ्गा' शब्द का प्रवाह रूप स्व अर्थ मुख्यार्थ-बाध आदि स्खलित होकर 'तीर' अर्थ को प्रकट करता है अतः 'तीर' अर्थ में लक्षणा-व्यापार है, किन्तु 'प्रयोजन' रूप शैत्य-पावनत्व के अंश में स्वार्थभ्रंश का अनुभव नहीं होता, क्योंकि मुख्यार्थबाध आदि की वहाँ प्रवृत्ति ही नहीं। ऐसी स्थिति में लक्षणा-व्यापार का विषय यह नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार

लोचनम्

स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। अत एव यत्केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम्। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। यद्वक्ष्यति—

'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥' इति॥

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रि-

यदि उस तीरादि अर्थ में भी स्खलद्गति (स्वार्थभ्रंश) होना मानते हैं तब पुनः मुख्यार्थबाधा और निमित्त रूप प्रयोजन होने से अनवस्था होगी। अतएव जो कि किसी ने (लक्षित तीरादि में पुनः पावनत्वादि प्रयोजन को लक्षित करते हुए) 'लक्षितलक्षणा' यह नाम रखा है वह तो व्यसनमात्र है। अतः अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा से व्यतिरिक्त चौथा यह व्यापार, जिसे ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि पर्याय शब्दों से निरूपित किया गया है, स्वीकार के योग्य है। जिसे कहेंगे—

'मुख्य वृत्ति (अभिधा व्यापार) को छोड़कर गुणवृत्ति (लक्षणारूप व्यापार) से (अमुख्य) अर्थ अमुख्य अर्थ का दर्शन (ज्ञान) जिस (प्रयोजनरूप) फल को उद्देश्य करके करते हैं उसमें शब्द स्खलद्गति नहीं है।'

इस प्रकार समय (सङ्केत) की अपेक्षा रखनेवाली, वाच्य अर्थ के बोधन की शक्ति 'अभिधाशक्ति' है। उसकी अन्यथानुपपत्तिरूप सहायवाली, अर्थावबोधन की शक्ति 'तात्पर्यशक्ति'[1] है। लक्षणाशक्ति मुख्यार्थबाध आदि तीन सहकारियों की अपेक्षा से,

इस प्रयोजन में भी स्खलद्गतित्व मान लिया जाय तो फिर मुख्यार्थ-बाधा, निमित्त और प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिये यही स्वीकार करना चाहिये कि 'प्रयोजन' में लक्षणा-व्यापार नहीं होता। इसी विषय को आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास में इन कारिकाओं द्वारा निरूपित किया है—

नाभिधा, समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

'काव्यप्रदीप' में 'स्खलद्गति' का अर्थ 'मुख्यार्थबाध आदि तीनों की अपेक्षा करके बोधक होना' किया है—'मुख्यार्थबाधादित्रयमपेक्ष्य बोधकत्वं स्खलद्गतित्वम्।'

१. यह वाक्य अत्यन्त उलझा हुआ है। जैसा कि इसका संस्कृत रूप है—'तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः'; एक अर्थ के अनुसार उसके अर्थात् अभिधा के अन्यथा अर्थात् बिना जिसकी अनुपपत्ति (असम्भव) सहायक है अर्थात् अभिधाशक्ति की सहायता प्राप्त करके ही तात्पर्यशक्ति क्रियाशील होती है, और जिस प्रकार अभिधा सङ्केतित अर्थ के अवबोधन की

लोचनम्

तत्प्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः; स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन्प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तम्। अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम्; न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात्। न ह्यर्थशक्तिमूलेऽस्या व्यापारः। सहकारि-

अर्थ के प्रतिभासन (बोधन) की शक्ति है। इन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थबोध के मूल से हुई, (उन अभिधेय आदि अर्थों) के प्रतिभास से पवित्रित प्रतिपत्ता (सहृदय) की प्रतिभा की सहायता से अर्थ के द्योतन की शक्ति 'ध्वननव्यापार'[1] है। और वह पहले हुए तीनों व्यापारों को अभिभूत करता हुआ, प्रधानभूत काव्यात्मा है इस आशय से (वृत्तिकार ने ही ध्वनिव्यापार को) निषेध के प्रमुख होने के कारण प्रयोजनविषयक होने पर भी 'निषेधविषयक'[2] कहा है। अभ्युपगम (प्रौढिवाद) मात्र से यह कहा है कि यहाँ लक्षणा नहीं है क्योंकि अत्यन्त तिरस्कार और अन्यसंक्रमण यहाँ नहीं हैं। अर्थशक्तिमूल में इस (लक्षणा) का व्यापार नहीं है। शक्ति का भेद सहकारी[3] के

शक्ति है उसी प्रकार तात्पर्यशक्ति अन्वय रूप अर्थ के अवबोधन की शक्ति है। दूसरे अर्थ के अनुसार उसकी अर्थात् अन्वय रूप अर्थ की अन्यथा अर्थात् तात्पर्य के अभाव में जो अनुपपत्ति है उसकी सहायता वाली यह तात्पर्यशक्ति है। इस प्रकार यहाँ आचार्य ने तात्पर्यशक्ति को 'व्यतिरेक' (तदभावे तदभावः = कारणाभावे कार्याभावः) के प्रकार से अनिवार्य सिद्ध किया है। मतलब यह कि तात्पर्यशक्ति के अभाव में वाक्यार्थ-बोध की अनुपपत्ति होगी यही कारण है कि तात्पर्यशक्ति को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ वाक्यार्थ-बोधाभाव ही तात्पर्यशक्ति की सिद्धि का सहायक है।

१. पूरी एक पंक्ति में आचार्य ने 'ध्वननव्यापार' के प्रति अभिधा आदि तीनों शक्तियों के द्वारा प्रयोज्य अर्थावबोध को सहकारी कारण बताया है और साथ ही यह भी निर्देश किया है कि इस व्यापार से ध्वन्यमान अर्थ का ज्ञान उसी प्रतिपत्ता को हो सकता है जो काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान (प्रतिभास) से पवित्रित या संस्कृत होकर पूर्ण 'सहृदय' हो जाता है।

२. वृत्तिकार ने 'क्वचिद् वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपः' अर्थात् कहीं पर वाच्य विधिरूप होता है तो व्यङ्ग्य निषेधरूप, यह कह कर 'भ्रम धार्मिक०' को उदाहृत किया है। यद्यपि 'प्रयोजन' जो सर्वथा 'व्यङ्ग्य' होता है यहाँ 'निषेध' नहीं बल्कि 'स्वच्छन्दविहार' आदि है, चूँकि इस 'प्रयोजन' की प्रतीति 'निषेध' की प्रतीति के द्वारा होती है इस कारण यहाँ वृत्तिकार ने 'निषेध' को व्यङ्ग्य कहा है। इससे यह समझना गलत होगा कि यहाँ 'निषेध' लक्षणा का विषय है, क्योंकि यहाँ न तो अन्यन्त तिरस्कार है और न अन्य सङ्क्रमण है।

३. अर्थशक्तिमूल ध्वनि का वह स्थल है जहाँ सहकारी के रूप में वक्तृ, बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य की प्रतीति हो, परन्तु लक्षणा में मुख्यार्थ-बाध आदि सहकारी होते हैं इस कारण दोनों का स्थल एक नहीं हो सकता। सहकारिभेद से शक्ति का भेद होता है इस सिद्धान्त के उदाहरण में आचार्य का कहना है कि वही शब्द का, जो अर्थ-बोधन के लिए प्रयुक्त होता है, व्याप्तिस्मृति, पक्षधर्मताज्ञान आदि सहकारी की अपेक्षा के बल पर विवक्षा के ज्ञान के लिए अनुमापकत्व व्यापार होता है और जब इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सहकारी की अपेक्षा होगी तो 'विकल्पकत्व' व्यापार (सविकल्पकज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति) होगा। जहाँ अनुमापकत्व व्यापार होगा वहाँ प्रयोग इस प्रकार होगा—'अयं वक्ता एतद्विवक्षुः एतच्छब्दप्रयोगात्'। शब्द श्रोत्र आदि के

लोचनम्

भेदाच्च शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः। अक्षादिसहकृतस्य वा विकल्पकत्वव्यापारः। एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवनीयम्।

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव।

अथ योऽसौ चतुर्थकक्षानिविष्टोऽर्थः, स एव झटिति वाक्येनाभिधीयत

भेद से होता है यह स्पष्ट है। जैसे उसी शब्द के सहकारी व्याप्तिस्मृति आदि हों और उनके द्वारा विवक्षा (वक्ता की इच्छा) का ज्ञान हो, तब अनुमापकत्व व्यापार होगा। अथवा चक्षु आदि सहकारी में तब विकल्पकत्व व्यापार होगा। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों[1] के लिए यह ध्वनन व्यापार का अस्तित्व अनिराकरणीय है।

जो कि अन्विताभिधानवादी[2] 'शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है वह शब्द का अर्थ होता है' इस बात को हृदय में रखकर, बाण की भाँति एक अभिधा व्यापार को ही दीर्घ-दीर्घ मानता है, उसका यदि वह दीर्घ व्यापार एक है सो कैसे? क्योंकि विषय के भिन्न होने से (व्यापार को भी भिन्न होना चाहिए)। यदि वह व्यापार अनेक है तो विषय और सहकारी के भेद से असजातीय ही है यह (मानना) ठीक होगा। और कार्य के सजातीय मानने पर पदार्थविद् लोगों ने शब्द, बुद्धि और कर्म के विराम हो जाने के बाद व्यापार का निषेध किया है। और यदि (व्यापार को) असजातीय मानते हैं तो हमारा नय (पक्ष) ही है।

(यदि कहें) जो वह चौथी कक्षा में रहने वाला अर्थ है वह भी झट से वाक्य के

सहकार से अपना प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक ही शब्द के अर्थ-ज्ञान में सहकारी भेद को लेकर व्यापारभेद हो गया है।

१. अभिहितान्वयवादी—अन्वय या पदों के सम्बन्ध के अर्थ के पक्षपाती ये आचार्य मीमांसक हैं और ये 'भाट्ट' या 'तौतातिक' मत के अनुयायी माने जाते हैं।

२. अन्विताभिधानवादी—इसे प्राभाकर मत कहते हैं। यहाँ 'अभिधा' के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं माना जाता। जिस प्रकार एक ही बाण दीर्घ-दीर्घ व्यापार के द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है उसी प्रकार एक ही अभिधा-व्यापार दीर्घ-दीर्घ होकर वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान करा देता है। किन्तु जब आचार्य इस सिद्धान्त को अपने तर्क की कसौटी पर लाते हैं। तब यह विशृङ्खल हो जाता है। क्योंकि किसी प्रकार एक ही व्यापार को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस व्यापार से विधि रूप अर्थ का बोध होता है उसी से निषेध रूप अर्थ करना सम्भव नहीं, अतः मानना पड़ेगा कि व्यापार अनेक है, साथ ही विषय और सहकारी के भेद से उसे असजातीय भी मानना होगा। अनेक व्यापार को सजातीय इसलिए नहीं मान सकते कि शब्द, बुद्धि और कर्म का विरम्य व्यापार नहीं होता।

लोचनम्

इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः। निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्संकेतानपेक्ष एवेति चेत्—पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।

अथोच्यते—पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं

द्वारा अभिहित हो जाता है. इस प्रकार का दीर्घदीर्घत्व विवक्षित है, तब यदि 'वहाँ सङ्केत न करने के कारण कैसे उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति हो सकती है? सङ्केत तो निमित्तों में होता है वह अर्थ तो नैमित्तिक होता है, अतः वह सङ्केत की अपेक्षा ही नहीं रखता' यदि यह कहें तब तो देखो जरा वैदिक की वचनचातुरी! जो कि यह (अर्थ) सबसे अन्त (पर्यन्त) की कक्षा में रहने वाला है वह पहले प्रतीति के पथ में अवतीर्ण होता है, उसके बाद में पदार्थज्ञान निमित्तभाव को प्राप्त करते हैं—इस प्रकार निश्चय ही मीमांसक को प्रपौत्र[1] के प्रति नैमित्तिकत्व अभिमत है!

यदि कहते हैं—'पहले वहां सङ्केतग्रह से संस्कृत (हो जाने पर) उस प्रकार की (पार्यन्तिक अर्थ की) प्रतीति होती है इस वस्तुस्थिति से पदार्थों का निमित्तत्व है।' तब तो फिर उसके अनुसरण[2] के उपयोग का कोई निमित्त नहीं बताया गया! दूसरे

१. ऊपर जो कि 'दीर्घ दीर्घ' की बात कही गई है उसमें यदि मीमांसक के पक्ष से यह स्वीकार किया जाय कि चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ झटिति वाक्य द्वारा अभिहित कर दिया जाता है तब अनेक व्यापार की कल्पना की स्थिति नहीं रह जाती। इस स्थिति में आचार्य कहते हैं कि तब तो और भी गड़बड़ी उपस्थित होगी, क्योंकि चतुर्थ कक्ष्यानिविष्ट अर्थ की साक्षात् प्रतिपत्ति संकेत किए बिना कैसे हो सकती है? यदि नैमित्तिक रूप उस अर्थ को संकेत की अपेक्षा से रहित माना गया तब तो एक विचित्र बात होगी। क्योंकि जो चतुर्थ कक्ष्या का अर्थ है सबसे पहले प्रतीत होगा और उसके पश्चात् उत्पन्न होने वाले पदार्थज्ञान उसके निमित्त होंगे! मीमांसक महोदय अपने पक्ष के समर्थन में यहाँ तक आ पहुँचे कि वे अपने प्रपौत्र को भी अपना कारण बेहिचक स्वीकार कर लेंगे। स्पष्ट यह कि जब कि मीमांसक के अनुसार चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला अर्थ अपने निमित्त रूप पदार्थज्ञान से पहले उत्पन्न होता है तब मीमांसक अपने प्रप्रौत्र के उत्पन्न होने के बाद में उत्पन्न हुए होंगे यह उन्हें अवश्य अभिमत होगा! इस प्रकार यहाँ आचार्य ने मीमांसकों की लिहाड़ी ली है।

२. पुनः अन्विताभिधानवादी मीमांसक का कहना है कि जहाँ तक यहाँ पदार्थों के निमित्त होने का प्रश्न है वह पहले पदार्थों में संकेतग्रह के मान लेने पर हल हो जाता है। इस प्रकार चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला अर्थ पहले पदार्थों में संकेतग्रह से संस्कृत रूप में उत्पन्न होता है। ऐसा मान लेने पर पदार्थ निमित्त बन जाते हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि उसके अनुसरण का यहाँ आपने कोई उपयोग नहीं कहा! अर्थात् पहले पार्यन्तिक अर्थ को संकेतग्रह से संस्कृत करने का उपयोग तो यही होना चाहिए कि पहले पदार्थों का ज्ञान हो तत्पश्चात् चतुर्थ कक्ष्यानिविष्ट अर्थ का ज्ञान हो। इस प्रकार पदार्थों का निमित्तत्व भी सार्थक होगा। दूसरे आपके मत में

लोचनम्

स्यात्। न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात्। आवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केतः पदार्थमात्र एवेत्यभ्युपगमे पाश्चात्यैव विशेषप्रतीतिः।

अथोच्यते—दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति। तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः। यद्वक्ष्यामः—

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते॥ इति॥

यह कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रह भी नहीं हुआ है, क्योंकि सर्वदा अन्वितों का ही प्रयोग है। यदि कहिए—आवापोद्वाप[1] के द्वारा उस प्रकार (पृथक् पदार्थों में सङ्केतग्रह) होगा, तब तो सङ्केत को पदार्थमात्र में ही स्वीकार करने पर विशेष (वाक्यार्थ) की प्रतीति बाद में ही होगी।

यदि कहते हैं—'झट-से तात्पर्य (पार्यन्तिक अर्थ) की प्रतीति देखी गई है तो हम क्या करें?' तो हम भी इसे अस्वीकार नहीं करते! क्योंकि हम कहेंगे—

'उस प्रकार वाक्यार्थ से विमुख स्वभाव वाले सहृदय जनों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वह अर्थ (पार्यन्तिक अर्थ) झट से अवभासित हो जाता है।'

पदार्थों में संकेतग्रह होता ही नहीं, क्योंकि अन्वित पदार्थों का ही सर्वदा आप प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में संकेतग्रह को पहले मानने का पक्ष सर्वथा अन्विताभिधानवादी मीमांसक के मत में गलत होगा।

१. आवापोद्वाप = प्रक्षेप-निक्षेप; ग्रहण-त्याग। यहाँ अन्विताभिधानवाद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। जैसा कि 'अभिहितान्वयवाद' में पहले 'अभिधा' शक्ति द्वारा पदार्थों का ज्ञान, तत्पश्चात् तात्पर्य शक्ति द्वारा अन्वय रूप वाक्यार्थ का ज्ञान है वह प्रस्तुत 'अन्विताभिधानवाद' में सर्वथा त्याज्य पक्ष है। इसके अनुसार 'अभिधा' से अन्वित पदार्थ का ही ज्ञान होता है अर्थात् जो वाक्यार्थ है वही वाच्यार्थ है। ये लोग अन्वयांश में अतिरिक्त शक्ति की कल्पना नहीं करते। जैसे 'गामानय' इस वाक्य में 'गो' शब्द का कोई अर्थ नहीं, बल्कि यहाँ 'गौ' की प्रतीति 'आनयन' से अन्वित होकर, एवं 'आनयन' की प्रतीति 'गौ' से अन्वित होकर होती है। यह मत प्रभाकर-मत या गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध है। प्रभाकर ने 'व्यवहार' को संकेतग्रह का प्रधान उपाय माना है। व्यवहार में देखा जाता है कि कोई बड़ा आदमी (उत्तम वृद्ध) अपने से छोटे आदमी (मध्यम वृद्ध) से 'गामानय' कहता है, उस समय वह दूसरा आदमी 'गौ' को लाकर उपस्थित करता है। समीप में स्थित बालक उत्तम वृद्ध के कथन और मध्यम वृद्ध के कार्य दोनों को सुनता और देखता है। इस प्रकार वह बालक 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य का अर्थ-ज्ञान करता है। तत्पश्चात् उत्तम वृद्ध के द्वारा 'गां बधान, अश्वमानय' (गौ को बाँधो और अश्व को लाओ) यह कहे जाने पर बालक 'गाम्' और 'आनय' का अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता है। यही 'आवापोद्वाप' के द्वारा संकेत का ग्रहण है। इस पर आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि ऐसी स्थिति में आप भी यही स्वीकार कर रहे हैं कि संकेत पदार्थ मात्र में ही होगा, फिर वाक्यार्थ रूप विशेष की प्रतीति पश्चात् ही होगी, पहले नहीं। इसलिये 'दीर्घदीर्घतरव्यापार' का पक्ष किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

लोचनम्

किं तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति। निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्याश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद् भेदः 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादिप्रक्रियाविघातः, निमित्तता-

किन्तु, पर्यालोचन का अभ्यास इतना अधिक हो जाता है कि वहाँ सम्भाव्यमान भी क्रम सजातीय उन (पदार्थविषयक) विकल्पों की परम्परा के उदित न होने से पहले से अभ्यस्त-विषय वाले व्याप्ति और समय (सङ्केत) की स्मृति के क्रमों की भाँति मालूम नहीं होता। और निमित्तनैमित्तिकभाव का अवश्य आश्रयण करना चाहिए। अन्यथा गौण और लाक्षणिक अर्थों का मुख्य अर्थ से भेद (मुख्यामुख्यरूपभेद) एवं (मीमांसाशास्त्र में उक्त) 'श्रुति'[1] लिङ्ग आदि छः प्रमाणों का क्रमशः दौर्बल्य है' इत्यादि

१. मीमांसाशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि का यह पूरा सूत्र इस प्रकार है—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'; इस सूत्र को प्रस्तुत 'लोचन' में उद्धृत करते हुये आचार्य का यह तात्पर्य है कि जब 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होने वाले अर्थों के क्रम में यदि निमित्त-नैमित्तिकभाव (कार्यकारणभाव) स्वीकार नहीं करते हैं तब उक्त मीमांसासूत्र में महर्षि जैमिनि ने श्रुति की अपेक्षा जो लिङ्ग आदि के दौर्बल्य का प्रतिपादन किया है, इस प्रक्रिया का विघात होगा, क्योंकि श्रुतिस्थल की भांति लिङ्ग आदि स्थल में भी शब्दश्रवण के पश्चात् प्रतीयमान सभी अर्थों की अभिधा से ही प्रतीति होने पर लिङ्ग आदि के दौर्बल्य का कारण नहीं रह जाता। इसलिये इस प्रक्रिया का समर्थन एकमात्र—निमित्तता-वैचित्र्य के मानने पर ही हो सकता है। और जब निमित्तता-वैचित्र्य स्वीकार कर लिया गया तो व्यापार का भिन्न होना लाजिमी है। इस प्रकार 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होने वाले सभी अर्थों में केवल अभिधा व्यापार से काम नहीं चलेगा, अतिरिक्त व्यापार मानना ही होगा।

यहाँ हम स्पष्टीकरण के उद्देश्य से 'काव्यप्रदीप' के उल्लेख के आधार पर उक्त मीमांसा-सूत्र का अर्थ-निर्देश करते हैं—

श्रुति आदि का समवाय अर्थात् एकत्र प्राप्ति होने पर उनके बीच जिसकी अपेक्षा जो पर (बाद) में होगा उसकी अपेक्षा वह दुर्बल होगा, क्योंकि अर्थविप्रकर्ष है; अर्थात् पूर्व की अपेक्षा पर विलम्ब से अर्थ का प्रत्यायन करता है।

श्रुति—'निरपेक्षो रवः श्रुतिः', अर्थात् वह शब्द 'श्रुति' कहलाता है जो अपने द्वारा किसी के अङ्गत्व-बोध के कार्य में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि अपने अर्थ के बोध में अन्य शब्द की अपेक्षा न रखने वाला शब्द 'श्रुति' कहलाता है; जैसे 'व्रीहीनवहन्ति'; क्रिया के फल को प्राप्त करने वाला ही कर्म होता है, इस प्रकार यहाँ 'व्रीहि' में कर्मत्व का प्रकार करती हुई द्वितीया विभक्ति किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा के विना ही व्रीहियों को 'अवघात' का शेष (अङ्ग) प्रतिपादन करती है।

लिङ्ग—'अर्थविशेषप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम्'; अर्थात् शब्द का वह सामर्थ्य, जिससे अर्थविशेष का प्रकाशन होता है 'लिङ्ग' कहलाता है। यह 'सामर्थ्य' रूढि ही है। जैसे—'बर्हिर्देवसदनं दामि' (देवों के आवास रूप बर्हि-कुश को काटता हूँ) इस मन्त्र का 'दामि' (लवन करता हूँ, काटता हूँ) इस श्रुत पद के सामर्थ्य से कुशच्छेदन में विनियोग है।

वाक्य—'परस्पराकांक्षावशात् क्वचिदेकस्मिन् अर्थे पर्यवसितानि पदानि वाक्यम्'; अर्थात् वह

लोचनम्

वैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात्। निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरम-स्मास्वसूयया। येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः

प्रक्रिया का विघात होगा, क्योंकि निमित्तता के वैचित्र्य से इसका समर्थन किया जा चुका है। जब कि निमित्ततताप्रयुक्त वैचित्र्य आप मान लेते हैं तो हम पर असूया[1]

पदसमूह 'वाक्य' है जो परस्पर आकांक्षाके वश किसी एक अर्थ में पर्यवसित होता है। जैसे—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि'; इस मन्त्र का 'निर्वपामि' इस 'लिङ्ग' द्वारा निर्वाप में विनियोग के साथ ही समवेत अर्थभाग की एकवाक्यता के बल से 'देवस्य त्वा०' इत्यादि भाग का भी निर्वाप में ही विनियोग है।

प्रकरण—'लब्धवाक्यभावानां पदानां कार्यान्तरापेक्षावशाद् वाक्यान्तरेण सम्बन्ध आकांक्षा-पर्यवसन्नं प्रकरणम्' अर्थात् जब पदसमूह 'वाक्य' की स्थिति में होता है तब दूसरे कार्य की अपेक्षा से दूसरे वाक्य के सम्बन्ध में आकांक्षा को 'प्रकरण' कहते हैं। जैसे—'समिधो यजति'। यह मन्त्र दर्शपूर्णमास यागों के प्रकरण में पढ़ा जाता है। जब यह आकांक्षा उपस्थित होती है कि दर्शपूर्णमास याग कैसे हों तब पाठवश इसका विनियोग होता है।

स्थान—'स्थानं क्रमः', अर्थात् अनेक में आम्नात मन्त्र का सन्निधिविशेष में आम्नात रूप क्रम को 'स्थान' कहते हैं। जैसे—'दब्धिरसि' इस मन्त्र में आग्नेय, अग्नीषोमीय और उपांशु याग क्रम से ब्राह्मण भाग में पढ़े गए हैं। मन्त्रभाग में भी क्रम से तीनों अनुमन्त्रण पठित हैं। आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों में लिङ्ग के ही द्वारा दोनों का विनियोग सिद्ध है, किन्तु 'दब्धिरसि' में लिङ्ग आदि कोई विनियोजक नहीं है। किन्तु 'ब्राह्मण' में जिस स्थान पर 'उपांशु' याग का विधान किया है उसी स्थान पर मन्त्र में भी इसका पाठ है, इस 'क्रम' से 'उपांशु याग' के अनुमन्त्रण में इसका विनियोग है।

समाख्या—'योगबलम्'; अर्थात् यौगिक शब्द 'समाख्या' है। जैसे—'हौत्रम् औद्गात्रम्' इत्यादि। 'होतुरिदं हौत्रम्' इस 'योग' के बल से हौत्रादि रूप से समाख्यात कर्म होत्रादि द्वारा अनुष्ठेय होते हैं।

विरोध के उदाहरण—श्रुति और लिङ्ग के विरोध में लिङ्ग का दौर्बल्य; जैसे—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' (हे इन्द्र तुम कभी भी हिंसक नहीं होते हो, किन्तु आहुति देने वाले यजमान पर प्रसन्न होते हो); 'अग्निहोत्र' के प्रकरण में यह ऋक् सुनी जाती है। इस ऋक् का विनियोग करने वाली यह 'श्रुति' है—'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'; अर्थात् इन्द्रसम्बन्धिनी ऋक् के गार्हपत्य नाम के अग्नि का आराधन करता है। इस प्रकार इन्द्रप्रकाशन-सामर्थ्य रूप लिङ्ग से 'गार्हपत्य' की ही 'इन्द्र' के अर्थ में लक्षणा आदि कारक विनियोग होगा। इस प्रकार श्रुति और लिङ्ग में विरोध होने पर श्रुति द्वारा लिङ्ग दुर्बल होने के कारण बाध लिया जायगा, क्योंकि 'गार्हपत्यम्' में द्वितीया विभक्ति अभिधा द्वारा पहले ही इस ऋक् को गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग कर देगी। प्रकाशक 'इन्द्र' पद के सामर्थ्य रूप लिङ्ग के द्वारा विलम्ब से इन्द्रोपस्थान में ऋक् का विनियोग सूचित होता है अतः यह पक्ष दुर्बल है। इसी प्रकार अन्य बाध्य और बाधकों का विचार 'काव्य-प्रकाश' के टीका-ग्रन्थों से कर लेना चाहिए। अब रस-प्रसङ्ग को हम अधिक विस्तार के भय से यहीं ही छोड़ देते हैं।

१. सर्वथा आप (मीमांसक) को भी निमित्ततावैचित्र्य के आधार पर अनेक व्यापारों की कल्पना करनी ही होगी तब मैंने जो ऐसी कल्पना की है उससे आपको असूया क्यों है? केवल यही न, विवश होकर आपको जिसे स्वीकार करना पड़ता है उसे हमने अपना पक्ष बना लिया है!

लोचनम्

सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

यत् तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः तदीयभीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमि-

करने से क्या लाभ? जो लोग[1] वाक्य और उसके अर्थ को अखण्ड, स्फोट रूप कहते हैं वे भी जब अविद्या या व्यवहार में आयेंगे तब उन्हें इस प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। उस (अविद्या या व्यवहार) की स्थिति को पार (उत्तीर्ण) होने के बाद तो सब कुछ परमेश्वराद्वय ब्रह्म हो जाता है, इसे हमारे शास्त्रकार नहीं जानते हैं? जब कि उन्होंने 'तत्त्वालोक' नामक ग्रन्थ की रचना की है! अस्तु।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—यहाँ ('भ्रम धार्मिक०' इस स्थल में) निषेध का ज्ञान दृप्तसिंहादि पद के प्रयोग और 'धार्मिक' पद के प्रयोग में होनेवाले भयानक रस के आवेश[2] के द्वारा ही होता है, क्योंकि उनकी (धार्मिक और सिंह की, क्रमशः) भीरुता और वीरतारूप प्रकृति के नियम (अविनाभाव) के ज्ञान के बिना एकान्ततः निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए केवल अर्थ का सामर्थ्य निषेध के ज्ञान का

१. व्याकरण-दर्शन में स्फोट रूप शब्द-ब्रह्म का सिद्धान्त है उसके अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ दोनों अखण्ड होते हैं। शब्द अकेले होकर अनर्थक होता है और समस्त अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ का बोध होता है। इसी प्रकार वेदान्ती लोग भी अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ को मानते हैं। पद-पदार्थविभाग के बिना किए ही ये लोग 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि अखण्ड वाक्य को अखण्ड ब्रह्म का वाचक मानते हैं। इस प्रकार इन दोनों सम्प्रदायों के अनुसार अखण्ड वाक्य का अखण्ड वाक्यार्थ बोध सम्पन्न हो जायगा, इतने व्यापारभेद की कल्पना अनावश्यक है यह कहकर प्रस्तुत कार्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। आचार्य का कहना है कि हम दोनों मतों को अस्वीकार नहीं करते, बल्कि समर्थन करते हैं, किन्तु जब व्यवहार का प्रसंग है तब तो किसी भी अखण्ड वाक्य को बिना क्रिया-कारक-भेद आदि से खण्ड-खण्ड किए अर्थज्ञान नहीं होगा, यहाँ तक कि वैयाकरण को भी नहीं होगा। तथा दूसरे वेदान्ती भी तो 'अविद्या' की स्थिति या व्यावहारिक दुनियाँ में आकर व्यावहारिक सत्य को स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें भी पद-पदार्थ की कल्पना अवश्य करनी होगी। हाँ जब वे 'विद्या' की स्थिति की बात करेंगे तब उनका अखण्ड-वाक्य-वाक्यार्थवाद हमें स्वीकार्य होगा, क्योंकि उस स्थिति में एक अद्वैत ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ रह ही नहीं जाता यह विषय क्या 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन को विदित नहीं है? इस प्रकार व्यवहार-क्षेत्र में वैयाकरण और वेदान्ती दोनों को हमारी सब बातें माननी होंगी। इस विषय का स्पष्टीकरण 'काव्यप्रकाश' के टीका-ग्रन्थों में है।

२. भ्रम धार्मिक० में भट्टनायक के कथनानुसार 'दृप्तसिंह' आदि और 'धार्मिक' पद के प्रयोग के होने पर प्रतिपत्ता (बोद्धा) को जो निषेध का ज्ञान होता है वह सर्वथा भयानकरस के आवेश के कारण ही होता है, क्योंकि बिना धार्मिक की भीरुता और सिंह की वीरता के ज्ञान के 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। केवल अर्थ के सामर्थ्य से निषेध का ज्ञान नहीं होता है। तात्पर्य यह कि प्रतिपत्ता को भयानक रस की अभिव्यक्ति से प्रस्तुत में निषेध की प्रतीति होती है।

लोचनम्

त्तमिति। तत्रोच्यते—केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगत-ध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, न ह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाप्राणितो

निमित्त नहीं।' इस पर कहते हैं—'यह किसने कहा है कि वक्ता विशेष और प्रतिपत्ता विशेष के विना जाने और विना शब्दगत ध्वनन व्यापार के, निषेध का ज्ञान होता है? प्रतिपत्ता की प्रतिभा की (व्यंग्यार्थावगति में) सहकारिता को तो हमने द्योतन (ध्वनन-व्यापार) का प्राण कहा है। भयानक रस के आवेश का हम निवारण नहीं करते क्योंकि सिर्फ हम उसे भयमात्र की उत्पत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रतिपत्ता को रस का आवेश रस की अभिव्यक्ति से ही होगा। और रस व्यंग्य ही होता है, क्योंकि रस का शब्दवाच्यत्व किसी ने भी नहीं माना है, अतः वह व्यंग्य ही होता है। प्रतिपत्ता को भी नियत रसावेश नहीं होता। क्योंकि वह सहृदय डरपोंक धार्मिक जैसा नियमतः नहीं होता है।

यदि उस (प्रतिपत्ता) विशेष को सहकारी[1] कल्पित करते हैं तो वक्ता और

इसके खण्डन में लोचनकार का कहना है कि भट्टनायक को समझने में भ्रम हो गया है कि वक्ता और प्रतिपत्ता के वैशिष्ट्य के ज्ञान के विना और शब्दगत ध्वनन-व्यापार के विना ही हम 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान करते हैं। बल्कि हम तो यह कहते हैं कि प्रतिपत्ता की प्रतिभा रूप विशेषता द्योतन या व्यञ्जना का प्राण है। दूसरी उपेक्षणीय बात जो भट्टनायक कहते हैं वह यह कि प्रतिपत्ता को भयानकरस का आवेश होता है, अर्थात् सुनने वाला सहृदय भयानकरस से आविष्ट होकर प्रस्तुत पद्य के 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान करता है। यहाँ भयानकरस का आवेश भयमात्र की उत्पत्ति ही हमें स्वीकार्य है। क्योंकि रसावेश रसाभिव्यक्ति ही से रस का आवेश हो सकता है। और रस सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है, शब्द द्वारा वाच्य कदापि नहीं होता है। इसलिए 'दृप्तसिंह' 'आदि और 'धार्मिक' पद के प्रयोग से जो भयानक रस का आवेश भट्टनायक ने कहा है वह उनकी मूलतः गलत धारणा है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि धार्मिक के समान प्रतिपत्ता सहृदय नियमतः भीरु नहीं हो सकता है, वह वीरप्रकृति भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में भयानक-रस का आवेश हो यह आवश्यक नहीं है। तब तो आप ऐसे सहृदय के लिए 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान नहीं होना ही बताएँगे? इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि भयानक रस की अभिव्यक्ति से 'निषेध' की प्रतीति नहीं होती।

१. ऊपर ध्वनन-व्यापार-खण्डन में भट्टनायक का जो यह मन्तव्य है कि प्रतिपत्ता अर्थात् बोद्धा को भयानक-रस के आवेश के कारण ही यहाँ 'निषेध' का ज्ञान होता है, उस पर जो आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहा कि यह कोई नियम नहीं हो सकता कि सहृदय प्रतिपत्ता सर्वथा इस पद्य को सुन कर भयानक रस से आविष्ट होता है; क्योंकि प्रत्येक सहृदय उस 'धार्मिक' के

लोचनम्

ध्वननव्यापारः किं न सह्यते। किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति। अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्; तत्को न सहते। अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते, तथापि काव्योदाहरणत्वाद् द्वावप्यत्र ध्वनी स्तः, को दोषः।

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तद् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पणमध्यास्ते; अपि तु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्थानोचितविशिष्टकाकाद्यनुभावशवलनोदितशृङ्गाररसानुवेधः। रसस्यालौकिकत्वा-

प्रतिपत्ता की प्रतिभा से प्राणित ध्वननव्यापार को क्यों नहीं सहन करते? दूसरे यह कि वस्तुध्वनि को तो दूषित करते हैं, रसध्वनि का, 'जो उस (वस्तुध्वनि) का अनुग्राहक है, समर्थन करते हैं, तो खूब यह ध्वनि का ध्वंस है! जो कि कहा है—'देवता का क्रोध भी वर के जैसा होता है।' यदि कहिए कि अब तक रस का ही प्राधान्य कहा है, तो इस बात को कौन नहीं सहन करता है? यदि वस्तुमात्र ध्वनि का यह उदाहरण ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं तथापि काव्य के उदाहरण होने से दोनों ध्वनि यहाँ हैं तो क्या दोष है?

यदि (सहृदय) विना रसानुवेध (रसावेश) के सन्तुष्ट नहीं होता है, तो (कहना यह है कि) सहृदय के हृदय-दर्पण में भयानक रस का आवेश अधिष्ठित नहीं होता, बल्कि उक्त प्रकार से सम्भोग की अभिलाषा का उद्दीपन-विभाव जो सङ्केत-स्थान है उसके उचित जो विशिष्ट काकु आदि अनुभाव हैं, उनके शवलन (सम्मिश्रण) से शृङ्गाररस का अनुवेध (आवेश) उदित होता है। रस के अलौकिक होने से और उतने मात्र से ही उसका अवगम सम्भव नहीं है, अतएव प्रथम जिनका भेद निर्विवाद

समान 'भीरु' नहीं होता है, बल्कि वीरप्रकृति भी होता है। इस पर भट्टनायक के पक्ष का यह कथन है कि यदि प्रतिपत्ता के प्रतिभाविशेष अर्थात् भीरुत्व को यहाँ भयानकरस के आवेश के होने में सहकारी कारण कल्पित कर लिया जाय तो नियम बन सकता है और उस तरह का प्रत्येक प्रतिपत्ता भयानकरस के आवेश से 'निषेध' का ज्ञान कर सकता है। इस पर लोचनकार का कहना है कि जब आपने प्रतिपत्ता के प्रतिभाविशेष तक को स्वीकार कर लिया तब ध्वननव्यापार को क्यों नहीं सह लेते हैं, क्योंकि ध्वनन में भी तो प्रतिपत्ता का प्रतिभाविशेष सहकारी होता है? आश्चर्य तो इस पर होता है कि वस्तुध्वनि को स्वीकार नहीं करते और रसध्वनि को स्वीकार करते हैं, जब कि रसध्वनि वस्तुध्वनि का अनुग्राहक है। यदि आप इस पर अड़े हुए हैं कि यहाँ रसध्वनि का प्राधान्य है तो हम आपकी बात को अमान्य नहीं ठहराते। हमें तो बस यही कहना है कि किसी प्रकार 'ध्वनि' का निराकरण नहीं होना चाहिए। प्रस्तुत में यदि रसध्वनि और वस्तुध्वनि दोनों हों, तो क्या हर्ज है!

लोचनम्

तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविविक्तविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् ।

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत्, स नास्माकं हृदयमावर्जयति । यदाहुः—'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति । तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत् । *भ्रमेति* । अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकालः । *धार्मिकेति* । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । *विस्रब्ध* इति शङ्काकारणवैकल्यात् । *स* इति यस्ते भयप्रकम्प्रामङ्गलतिकामकृत । *अद्येति* । दिष्ट्या वर्धस इत्यर्थः । *मारित* इति पुनरस्यानुत्थानम् । *तेनेति* । यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि तद्रक्षार्थं तत्तयोपश्रावितोऽसौ; स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्कयेति भावः ।

सिद्ध है उन विधि और निषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुध्वनि¹ का उदाहरण दिया है ।

जिसने ध्वनि का व्याख्यान करने के लिए उद्यत हो, तात्पर्य शक्ति को ही अथवा विवक्षा के सूचकत्व (अनुमापकत्व) को ही ध्वनन कहा है, वह हमारे हृदय को आकृष्ट नहीं करता । जैसा कि कहते हैं—'लोग भिन्न रुचि के होते हैं ।' तो इसे आगे यथावत् विस्तार करेंगे । घूमो—। तुम अतिसृष्ट हो (तुम्हारी इच्छा पर है घूमो अथवा न घूमो), तुम्हारे घूमने का यह समय है । धार्मिक (बाबाजी)—। फूल आदि सामग्री के लिए तुम्हारा घूमना ठीक है । इतमीनान से—। क्योंकि शङ्का करने का अब कोई कारण नहीं रह गया । वह—। जिसने तुम्हारे अङ्गों को भय से कम्पित कर डाला था । आज—। अर्थात् तुम्हारे भाग्य की वृद्धि है । मार डाला गया—। अब फिर वह नहीं आएगा । उस (सिंह ने)—। जिसे पहले से तुमने भी कानोंकान सुन रखा है कि गोदावरी के गहन कच्छ में रहता है । पहले से ही उस स्वैरिणी ने सङ्केत स्थान की रक्षा के लिए सिंह के गोदावरी के गहन कच्छ में निवास करने का वृत्तान्त धार्मिक को सुना रखा है । भाव यह कि (पहले तो कच्छ गहन में रहता मात्र था) अब तो वह दृप्त (मत्त, पागल) हो जाने के कारण गहन से निकल जाता है, इसलिए प्रसिद्ध गोदावरी नदी के तीर की भूमि के आस-पास घूमना भी बिलकुल बन्द हो गया है (सिर्फ चर्चा का विषय बन कर रह गया है) वहाँ के लतागहन में प्रवेश की शङ्का की तो बात ही नहीं ।

१. सहृदय पर भयानक रस का आवेश तो कतई नहीं माना जा सकता, बल्कि यह कह सकते हैं कि यहाँ शृङ्गार रस का अनुवेध है । परन्तु इसे वस्तुध्वनि का उदाहरण देते हुए आचार्य का अभिप्राय यह है कि पहले निर्विवादसिद्ध विधि-निषेध का प्रदर्शन हो जाय ।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

कहीं वाच्य के प्रतिषेधरूप होने पर व्यंग्य विधिरूप; जैसे—

सास यहाँ गहरी सोती है, यहाँ मैं (सोती हूँ), दिन में ही देख लो। रात के अन्धे (रतौंधी के रोगी) हे पथिक ! कहीं हमारी खाट पर न गिर पड़ना।

लोचनम्

अत्ता इति ।

श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक राज्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः ॥

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति । एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । कांचित्प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः संपन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः । न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव *राज्यन्धेति* समुचितसमय-

(प्राकृत गाथा में) 'मह' यह निपात अनेकार्थवृत्ति होने के कारण यहाँ 'हमारी' (अर्थात् मेरी और सास की) इस अर्थ में है न कि 'मेरी' इस अर्थ में। ऐसा करने पर ('मम' यह) विशेष वचन ही श्वश्रू को शङ्कित कर देने वाला[1] हो जायगा, ऐसी स्थिति में नायिका द्वारा किया गया पथिक का प्रच्छन्नाभ्युपगम (छिपे ढंग से साथ सोने की स्वीकृति) नहीं बनेगा। किसी प्रोषित-पतिका (जिसका पति परदेश चला गया है) तरुणी को देखकर कोई पथिक विशेष कामासक्त हो गया, तब इस निषेध के प्रकार से उस तरुणी ने उसे शयन के लिए वचन दिया, इस प्रकार यहाँ निषेधाभावरूप विधि है, न कि अप्रवृत्त में प्रवर्तन स्वभाव का निमन्त्रणरूप[2] (विधि) है; क्योंकि (तव तो) सौभाग्य के अभिमान के खण्डित हो जाने का प्रसंग होगा। इसीलिए 'रात के अन्धे' इसके द्वारा योग्य समय में सम्भावित होने वाले विकारों से उसका आकुलित

१. यदि नायिका 'मम' इस विशेष वचन का प्रयोग करेगी तव सुनती हुई उसकी सास को यह शंका हो सकती है यह (बहू) अपनी ही खाट पर पथिक के गिर जाने की बात क्यों करती है ?, जब कि रतौंधी वाला पथिक मेरी भी खाट पर गिर सकता है। हो न हो यहाँ दाल में कुछ काला है !

२. प्रस्तुत गाथा में प्रतीयमान विधि को निषेध का अभाव रूप समझना चाहिए, क्योंकि नायिका ने 'खाट पर गिर न जाना' इस निषेध के प्रकार से पथिक को मिलन का वचन दिया है। यहाँ आचार्य का निर्देश है कि 'विधि' को निमन्त्रण स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिए, अर्थात् नायिका ने यहाँ अप्रवृत्त पथिक को निमन्त्रण के द्वारा प्रवृत्त नहीं किया है, क्योंकि यदि ऐसा माना जायगा तब उसे अपने सौभाग्य का अभिमान क्या रह जायगा। पथिक तो स्वयं नायिका से

लोचनम्

सम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम्। भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वाच्याद्व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम्।

यत्त्वाह भट्टनायकः—'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपी'ति। तत्राहमिति शब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः; काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत्। अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसम्भोगपरिहारः। अथ यद्यपि भवान्मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितुं न युक्तः, तथापि किं करोमि पापो दिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः। प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः। न च सर्वथा त्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यतोऽहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः। प्रतिपन्नमात्रायां च रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा श्लिषः, अपि

होना ध्वनित होता है। भाव और अभाव इन दोनों में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य से व्यंग्य का भिन्नत्व स्पष्ट ही है।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—(गाथा में प्रयुक्त) 'अहं' ('मैं') इस पद के द्वारा अभिनय विशेष के बल से अपनी दशा के आवेदन करने के कारण यह (निषेध के द्वारा जो अभ्युपगमन) भी वह शाब्द (शब्दाभिधेय) है।' इस पर (कहते हैं कि) 'अहं' ('मैं') इस शब्द का यह (अभिनय विशेषरूप अभ्युपगमन) साक्षात् अर्थ नहीं है, बल्कि काकु की सहायता से ऐसा होता है, ऐसी स्थिति में ध्वनन ही व्यापार (यहाँ ठहरता) है; यह ध्वनि का भूषण है, दूषण नहीं। (गाथा में) 'अत्ता' ('श्वश्रू') के प्रयोग द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्भावित अपने अनिभृत (एकान्त) सम्भोग का परिहार है। यद्यपि तुम काम के बाणों की वर्षा से फटे हृदय वाले किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हो तथापि यह पापी दिन सम्भोग के लिए अनुचित होने के कारण बड़ा खराब है—यह अर्थ हुआ। प्राकृत में पुंल्लिङ्ग-नपुंसक का नियम[1] नहीं है। अर्थात् मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ, क्योंकि देखो कहीं अन्यत्र नहीं जाती हूँ, अतः हम एक दूसरे का मुख देखने के विनोद से इस दिन को वितायें। रात के होते ही अन्धे होकर

मिलने के लिए प्रवृत्त है, उत्सुक है; इसी कारण ही नायिका ने उसे 'रात्र्यन्ध' (रतौंधी का रोगी या रात का अन्धा) कह कर उसके सम्भाव्यमान विकारों के कारण आकुलता को सूचित किया है! अन्यथा नायिका को क्या पड़ी थी कि उसे 'रात्र्यन्ध' कहती, जब कि वह किसी प्रकार पहुँचता स्वयं वह मिल ही लेती। किन्तु ऐसी स्थिति ही नहीं है।

१. तात्पर्य यह कि कोई भी शब्द, जो पुंल्लिङ्ग है वह नपुंसक भी हो सकता है और जो नपुंसक है वह पुंल्लिङ्ग भी हो सकता है, जैसा कि पुंल्लिङ्ग 'दिवसक' शब्द नपुंसक पढ़ा गया है। किन्तु मेरा विचार है कि 'दिवसकं प्रलोकय'—प्रस्तुत इस स्थल में 'दिवसकम्' यह प्रयोग 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' के नियम के अनुसार 'द्वितीया' विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इसलिए यहां प्राकृत-शब्द के पुंनपुंसकत्व का विचार ही कोई आवश्यक नहीं है। फिर भी, सम्भव है आचार्य का यह कहना ठीक हो।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्ज्ञ वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु॥

कहीं वाच्य के विधिरूप होने पर (व्यङ्ग्य) अनुभय रूप (न विधिरूप तथा न निषेधरूप) होता है। जैसे—

तू जा, मुझ ही अकेली के निश्वास और रुदन भाग में हों, उसके विना दाक्षिण्य (समानुरागिता) से रहित तेरे भी ये (निश्वास, रुदन) मत पैदा हों।

लोचनम्

तु निभृतनिभृतमेवात्ताभिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते।

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत॥

अत्र व्रजेति विधिः। न प्रमादादेव नायिकान्तरसंगमनं तव, अपि तु गाढानुरागात्, येनान्याहङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः, तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते। न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः।

मेरी शय्या पर मत गिर जाओ, बल्कि बहुत कायदे से यह पता कर लो कि 'श्वश्रू' नाम का निकट वाला काँटा नींद में है, यह इतना ध्वनित होता है।

यहाँ 'जा' यह विधि है। प्रमादवश ही तू दूसरी नायिका से नहीं मिलता, अपितु गाढ़ अनुरागवश तू (उससे) मिलता है, जिससे यह तेरा मुखराग कुछ भिन्न-सा है और गोत्रस्खलन (दूसरी नायिका का नामोच्चारण) आदि हो रहे हैं। सिर्फ तू यहाँ मेरे पालन का जो पहले वचन कर चुका है उसी दाक्षिण्य के कारण जो एकरूपता का अभिमान तुझे है उसी से तू यहाँ ठहरा है तो तू सर्वथा 'शठ'[1] निकला, इस प्रकार यहाँ 'खण्डिता'[2] नायिका का अधिक कोपरूप अभिप्राय प्रतीत होता है। न तो यहाँ गमनाभावरूप निषेध है और न तो कोई दूसरा विधि (विध्यन्तर) निषेध का अभाव ही (व्यंग्य होता है)।

१. 'शठ' वह नायक कहलाता है जो एक नायिका में बाहर से अनुराग प्रकट करता है और छिपे-छिपे दूसरी से अनुराग करते हुए उसका विप्रिय या अहित करता है—गूढविप्रियकृच्छठः।

२. 'खण्डिता' वह नायिका कहलाती है जिसका प्रिय पराई के साथ सम्पन्न मिलन के चिह्न से चिह्नित होकर प्रातःकाल उपस्थित होता है और वह उसे देख कर ईर्ष्या से भर जाती है—

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता॥ साहित्यदर्पण ३।११७

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्णाविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणँ वि हआसे॥

कहीं वाच्य के प्रतिषेधरूप होने पर व्यङ्ग्य अनुभयरूप होता है। जैसे—

प्रार्थना करता हूँ, प्रसन्न हो, लौट आओ, अरी, अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार-समूह को दूर करनेवाली, इन आशाओं वाली, तू दूसरी अभिसारिकाओं के भी विघ्न करती है।

लोचनम्

दे इति निपातः प्रार्थनायाम्। आ इति तावच्छब्दार्थे। तेनायमर्थः—

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥

अत्र व्यवसिताद्गमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः। गृहागता नायिका गोत्रस्खलिताद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता, नायकेन चाटूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते। न केवलं स्वात्मनो मम च निर्वृतिविघ्नं करोषि, यावदन्यासामपि; ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते—न केवलमात्मनो विघ्नं करोषि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अत एव हताशा; यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं

(गाथा में) 'दे' यह निपात प्रार्थना के अर्थ में है। 'आ' यह निपात 'तावत्' शब्द के अर्थ में है। इसलिए यह अर्थ हुआ—

प्रार्थना करता हूँ······।

यहाँ व्यवसित गमन से 'लौट आओ' इस प्रतीति के कारण गमन का निषेध वाच्य है। जब नायिका घर आई तब नायक गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठा और वह (नायिका) लौट जाने के लिए प्रवृत्त हुई, तब नायक प्रशंसा की भाषा का उपक्रम करके उसे निवृत्त करता है। न केवल तू अपने-आपके और मेरे सुख में विघ्न डालती है, बल्कि दूसरी स्त्रियों के भी; इसलिए तुझे कभी भी सुखलेश का लाभ भी नहीं होगा, अतएव तू हताशा है, इस प्रकार नायक का अभिप्रायरूप चाटु विशेष व्यंग्य है।

अथवा सखी के द्वारा उपदेश दिए जाने पर भी उसे न मानकर जाती हुई नायिका के प्रति सखी कहती है—न केवल तू अपना विघ्न करती है—इस प्रकार के छुटपन (लघुता) से अपने को अवहुमान का आस्पद बनाती हुई—अतएव हताशा, बल्कि तू अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के भी विघ्न करती है, यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यंग्य है। इन दोनों व्याख्यानों में

लोचनम्

करोषीति सख्यभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः। अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात्, न ध्वनेः।

तेनायमत्र भावः—काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं *हताश* इति। अन्यासाञ्च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ, त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाटवात्मा व्यङ्ग्य इयत्येव व्यवतिष्ठते। अन्ये तु—'तटस्थानां सहृदयानामभिसारिकां प्रतीयमुक्तिः' इत्याहुः। तत्र *हताशे* इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम्।

भी (नायिका द्वारा) व्यवसित प्रतीपगमन (अपने घर के प्रति गमन) और प्रियतम के गृह के गमन से 'लौट आओ' (निवृत्त हो) यह जो वाच्य है उसमें ही (सखीगत नायिकाविषयकभावरूप रति अथवा नायकगत नायिकाविषयक रति के) विश्रान्त होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य के भेद जो क्रमशः प्रेयोऽलङ्कार और रसवदलङ्कार हैं उनका यह उदाहरण होगा, न कि ध्वनि का।

इसलिए[1] यहाँ यह भाव है—कोई नायिका झटपट प्रियतम के घर के प्रति अभिसार करती है, उसी समय मार्ग में उसके घर की ओर आता हुआ वही प्रियतम अप्रत्यभिज्ञान (नायिका को न पहचानने) के बहाने उसे इस प्रकार प्रशंसा करता है। इसीलिए अपने को पहचानने के लिए ही नर्मवचन 'हताशे' (का प्रयोग) है। दूसरी (अभिसारिकाओं) के विघ्न पहुँचाती है, फिर तेरा ईप्सित लाभ होगा, इसकी क्या प्रत्याशा है ? अतएव 'मेरे घर आ, या हम दोनों तेरे घर चलें' इन दोनों में तात्पर्य होने के कारण अनुभयरूप चाटुगर्भित प्रिय का अभिप्राय व्यंग्य इतने में ही व्यवस्थित होता है। दूसरे तो यह कहते हैं कि यह तटस्थ सहृदयों का अभिसारिका के प्रति वचन है। वहाँ 'हताशे' यह आमन्त्रणादि ठीक है अथवा ठीक नहीं, सहृदयजन ही प्रमाण हैं।

---

१. प्रस्तुत गाथा 'दे आ पसिअ०' को आचार्य ने वक्ता के भेद के आधार पर तीन-चार प्रकार से लगाया है। पहले व्याख्यान के अनुसार नायक के घर पर नायिका पहुँची तब नायक उसके समक्ष गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठा। इस पर तुनक कर जब वह चल पड़ने के लिए उद्यत हुई तब नायक उसकी प्रशंसा के द्वारा उसे निवृत्त करने का प्रयत्न करने लगा। उसने कहा कि वह अपने और मेरे सुख में तत्काल विघ्न तो कर ही रही है अन्य अभिसारिकाओं के सुख में भी विघ्न डाल रही है। 'अभिसारिका' वह नायिका कहलाती है जो अन्धकार आदि में प्रिय का अभिसरण करती है'। यहाँ नायक का चाटुरूप अभिप्राय व्यङ्ग्य है। दूसरे व्याख्यान के अनुसार यह नायिकाकी सखी का वचन है, नायिका को सखी ने मना किया कि वह तत्काल अभिसार न करे,

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरम्।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्लिम्॥

अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते।

कहीं वाच्य से विभिन्न-विषय रूप में व्यवस्थापित व्यङ्ग्य, जैसे—

अथवा प्रिय के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होता, री, मना करने पर भी भौंरे सहित कमल को सूंघने वाली, अब तू उसका दुष्परिणाम भुगत!

वाच्य से भेद रखने वाले प्रतीयमान के दूसरे इस प्रकार के भेद सम्भव हैं। उन्हें दिङ्मात्र यहाँ प्रदर्शित किया है। वाच्य से विभिन्न दूसरा भी प्रभेद आगे प्रपञ्च के साथ दिखायेंगे।

लोचनम्

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम्। अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य वाच्याद्भेद इत्याह—*क्वचिद्वाच्यादिति*। *व्यवस्थापित* इति। विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

इस प्रकार (इन निर्दिष्ट उदाहरणों में) धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका के वाच्य और व्यंग्य के एकविषय होने पर भी स्वरूप के भेद से भेद है यह प्रतिपादन

किन्तु जब यह नायिका ने नहीं माना तब सखी ने कहा कि हताशा वह अपना विघ्न तो करती ही है साथ ही अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के भी विघ्न करने के लिए प्रस्तुत है। यहाँ सखी का चाटु रूप अभिप्राय व्यङ्ग्य है।

आचार्य के कथनानुसार इन दोनों व्याख्यानों में प्रस्तुत गाथा 'ध्वनि' का उदाहरण न होकर गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण हो जाती है। सखी के वचन के पक्ष में 'प्रेयोऽलङ्कार' है। भाव के पराङ्ग होने पर 'प्रेयोऽलङ्कार' होता है। यहाँ सखी की नायिका में 'रति' व्यङ्ग्य है एवं 'लौट आओ' (निवर्तस्व) इस वाच्य के प्रति अङ्ग हो रहा है। इसी प्रकार नायक के वचन के पक्ष में यह रसवदलङ्कार है। क्योंकि रस जब पराङ्ग होता है तब 'रसवदलङ्कार' होता है। यहाँ नायक की नायिकागत रति प्रस्तुत वाच्य के प्रति अङ्ग हो रही है।

इसलिए आचार्य ने तृतीय व्याख्यान किया कि नायिका को उस समय अभिसार करते हुए नायक अंधेरे में मार्ग में पाता है जब वह स्वयं नायिका के घर उससे मिलने के लिए जा रहा था। नायिका को पहचान कर भी न पहचानने का बहाना करके नायक ने प्रस्तुत वचन कहा।

लोचनम्

कस्य वेति। अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव; अकृत्वापि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य। *सभ्रमरपद्माघ्राणशीले* शीलं हि कथंचिदपि वारयितुं न शक्यम्। वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि। *सहस्वेदानीमु*पालम्भपरम्परामित्यर्थः। अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित्खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते *सहस्वेदानीमिति* वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु—अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम्। तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदु-

किया गया। अब विषय के भेद से भी व्यंग्य का भेद[1] है, यह कहते हैं—कहीं पर—। व्यवस्थापित—। अर्थात् विषय का भेद भी विचित्ररूप से रहता हुआ सहृदयजनों के द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है।

अथवा प्रिया के व्रणयुक्त……

ईर्ष्या से रहित व्यक्ति के भी क्रोध देखकर ही चढ़ आता है। न करके भी किसी कारण अपूर्व भाव से प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर। भौंरे सहित कमल को सूँघने के शील वाली—। शील किसी प्रकार हटाया नहीं जा सकता। वारित में, निवारण में, वामा अर्थात् निवारण को अङ्गीकार न करनेवाली। अब सहन कर (दुष्परिणाम भुगत)—। अर्थात् उलहनों की परम्परा को सहन कर (अपने किए का दुष्परिणाम भुगत)। यहाँ भाव यह है—कोई चालाक (विदग्ध) सखी किसी अविनीत नायिका से, जो कहीं से (जार आदि के द्वारा) अपना अधर-खण्डित करा चुकी है, उसके पति को निश्चितरूप से सन्निहित जानकर, उसे (उसके पति को) न देखती हुई-सी, पति के द्वारा उपालम्भ मिलने के परिहार के लिए (जिससे कि उसका पति खण्डित-अधर देखकर उसे न डाँटे) कहती है। 'सहन कर' (दुष्परिणाम भुगत) यह वाच्य अविनयवती उस नायिका के प्रति है। पति के प्रति तो—'इसका अपराध नहीं है' यह आवेद्यमान (निरपराधत्व) व्यंग्य होता है। प्रियतम के द्वारा अधिक उपालम्भ प्राप्त उस नायिका के होने पर पति का अप्रिय करने से शंकित आस-पास के लोगों कें प्रति नायिका के अविनय के प्रच्छादन के द्वारा (नायिका के निरपराध

यहाँ 'निवर्तस्व' वाच्य है, किन्तु नायक का यह तात्पर्य व्यङ्ग्य है कि मेरे घर आ अथवा हम दोनों ही तुम्हारे घर चलें, इस प्रकार यह अनुभय रूप व्यङ्ग्य है। चतुर्थ व्याख्यान के अनुसार यहाँ तटस्थ सहृदयों का किसी अभिसारिका के प्रति वचन है। आचार्य के कथनानुसार इस अंश में 'हताशे' यह आमन्त्रण आदि ठीक बैठ जाता है या नहीं इसका निर्णय तो सहृदय स्वयं कर सकते हैं!

१. व्यङ्ग्य और वाच्य में विषयभेद और स्वरूपभेद इन दो ही भेदों का दिङ्मात्र प्रदर्शन 'ध्वन्यालोक' में किया गया है। मम्मट आदि अन्य आचार्यों ने और भी कई भेद बतलाए हैं। 'साहित्यदर्पण' में सबका संग्रह एक कारिका में किया गया है—

लोचनम्

पालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तं; प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसम्बोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति। तदेतदुक्तं *व्यवस्थापितशब्देन*। *अग्र* इति द्वितीयोद्द्योते 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्द्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीय-

होने का) बोधन व्यंग्य है। उसकी सपत्नी के प्रति जो उसे उपालम्भ मिलने के कारण और उसके अविनय से प्रसन्न है, 'प्रियायाः' इस शब्द के बल से नायिका के अतिशय सौभाग्य का ख्यापन व्यङ्ग्य है। 'सपत्नियों के बीच इस तरह (अविनय के साफ जाहिर करने से) मैं गौरवहीन कर दी गई हूँ' इस प्रकार का लघुभाव अपने में रखना ठीक नहीं है, बल्कि यह (बहुमान—गौरव) की बात है, 'सहस्व' अर्थात् इस समय शोभित हो, इस प्रकार सखी के प्रति सौभाग्य का प्रख्यापन व्यङ्ग्य है। 'आज तो तुम्हारी इस प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभा को इस प्रकार बचा लिया, फिर कहीं स्पष्ट रूप से दन्तक्षत नहीं करना' इस प्रकार उस नायिका के चौर्य-कामुक के प्रति सम्बोधन व्यङ्ग्य है। और तटस्थ विदग्ध लोगों के प्रति 'अपना यह वैदग्ध्य-ख्यापन कि मैंने इस प्रकार इसे छिपा लिया' व्यङ्ग्य है। इसीलिए वृत्तिग्रन्थ में 'व्यवस्थापित'[१] कहा है। आगे—। दूसरे 'उद्द्योत' में 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्द्योतितः परः' इस प्रकार

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधीयते व्यङ्ग्यः ॥

(क) बोद्धृभेद; वाच्य अर्थ को तो पद-पदार्थ की व्युत्पत्ति रखने वाले वैयाकरण आदि भी समझ लेते हैं, किन्तु व्यङ्ग्य को वही समझता है जो सर्वथा 'सहृदय' है ('सहृदय' वैयाकरण आदि भी हो सकते हैं !)। (ख) स्वरूपभेद; वाच्य विधि रूप होता है तो व्यङ्ग्य निषेध रूप आदि। स्वरूपभेद के कई उदाहरण 'ध्वन्यालोक' में दिए गए हैं। (ग) संख्याभेद; यदि वाच्य एक है तो व्यङ्ग्य अनेक भी हो सकते हैं, जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' में वाच्य अर्थ एक है और व्यङ्ग्य अर्थ अनेक हैं। (घ) निमित्तभेद; वाच्य अर्थ के ज्ञान के कारण (निमित्त) संकेत-ग्रह आदि हैं किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ के बोध के लिए निर्मल प्रतिभा होनी चाहिए, सहृदयता आदि होनी चाहिए। (ङ) कार्यभेद; वाच्य अर्थ केवल प्रतीति को उत्पन्न करता है और व्यङ्ग्य चमत्कार को भी उत्पन्न करता है। (च) कालभेद; वाच्य अर्थ पहले प्रतीत होता है और व्यङ्ग्य अर्थ बाद में। (छ) आश्रयभेद; वाच्य अर्थ शब्द के आश्रित होता है किन्तु व्यङ्ग्य शब्द के एक देश प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण, संघटना आदि के भी आश्रित हो सकता है। (ज) विषयभेद; इसका उदाहरण मूल में 'कस्य न वा भवति०' इस गाथा में दिया है, यहाँ वाच्यार्थ-बोध का विषय नायिका है और व्यङ्ग्यार्थ का विषय नायक है।

१. प्रस्तुत गाथा में व्यङ्ग्य विषय के भेद से भिन्न रूप में 'व्यवस्थापित' है। 'व्यवस्थापित' कहने का तात्पर्य है कि यहाँ कोई आचार्य के द्वारा अपनी ओर से नहीं जोड़ा गया है, बल्कि ऐसा है

लोचनम्

प्रभेदवर्णनावसरे। यथा हि विधिनिपेधतदनुभयात्मना रूपेण संकलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कारध्वनिः, अलङ्काराणां भूयस्त्वात्। तत एवोक्तम्–*सप्रपञ्चमिति*।

तृतीयस्त्विति। तुशब्दो व्यतिरेके। वस्त्वलंकारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापाराहते नास्ति कल्पनान्तरम्। स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात्। औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या

'विवक्षितान्यपरवाच्य' नामक दूसरे प्रभेद के वर्णन के अवसर में। जिस प्रकार विधि, निषेध और विधिनिपेधानुभय रूप प्रकार के द्वारा सङ्कलित करके वस्तुध्वनि को संक्षेप में कहा जा सकता है, उस प्रकार अलङ्कारध्वनि को नहीं कह सकते, क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत है। उसी कारण से कहा—प्रपञ्च के साथ—।

तीसरा प्रभेद तो—। 'तो' ('तु') शब्द व्यतिरेक में प्रयुक्त है। अभिप्राय यह कि वस्तु और अलङ्कार शब्द के द्वारा अभिधेय होते भी हैं, लेकिन रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम कभी-कभी शब्द के द्वारा अभिहित नहीं होते और केवल प्राण रूप में विद्यमान जो उनकी आस्वाद्यमानता है उसी के कारण वे प्रकाशित होते हैं। वहाँ ध्वनन व्यापार को छोड़ कोई दूसरी कल्पना नहीं है। स्खलद्गतित्व के न होने से मुख्यार्थबाध आदि लक्षणा के कारणों की आशङ्का नहीं की जा सकती। औचित्यपूर्वक प्रवृत्ति के होने पर जब चित्तवृत्ति का आस्वाद होता है तब स्थायिनी चित्तवृत्ति से रस, व्यभिचारिणी से भाव, एवं (स्थायिनी चित्तवृत्ति से) अनौचित्य-पूर्वक प्रवृत्त होने पर रसाभास

ही। नायिका किसी जार से अपना अधर खण्डित करा कर पहुँची है। यह स्वाभाविक है कि उसका 'अपराध' प्रकट हो जायगा और उसका पति उस पर बेहद कुपित होगा। उसकी सखी ने उसे निरपराध सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत 'वचन' कहा, जिसका व्यङ्ग्य उसके पति, सुनने वाले आस-पड़ोस के लोग, सौत, स्वयं नायिका, चौर्यकामुक जार एवं तटस्थ विदग्ध जन के प्रति विभिन्न रूप में प्रतीत होता है। नायिका की सखी उसके पति से यह कहना चाहती है कि इसका कोई अपराध नहीं है, अन्यथा समझ कर कहीं क्रोध मत कर बैठना। आस-पड़ोस के लोगों से उसके इस कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यदि इसका पति इसे उपालम्भ भी दे तो भी इसका अविनय नहीं समझना चाहिए। सपत्नी, जो नायिका के उपालम्भ और अविनय से प्रसन्न है, के प्रति 'प्रियायाः' इस शब्द के बल से नायिका का सौभाग्यातिशय ख्यापन व्यङ्ग्य है। नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है कि यह न समझना कि सपत्नियों के बीच वह इस तरह हल्की कर दी गई ही है बल्कि 'सहस्व' का दूसरा अर्थ यह है कि अब उनके बीच शोभा को प्राप्त कर। 'प्राकृत' में 'सहसु' का दूसरा रूप 'शोभस्व' भी हो सकता है। चौर्यकामुक के प्रति व्यङ्ग्य यह प्रतीत होता है कि आज तो किसी प्रकार प्रसन्नानुरागिणी तेरी इस प्रियतमा की रक्षा मैंने कर दी, अब फिर कहीं स्पष्ट रूप से इसका अधर मत काट देना। तटस्थ सहृदय लोगों के प्रति इस नायिका-सखी का व्यङ्ग्य प्रतीत होता है कि मैंने सफेद झूठ बोल कर किस प्रकार जाहिर बात को छिपा दिया!

लोचनम्

भावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात्। तथापि पाश्चात्त्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव। तदङ्गं भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, तत एव तत्संगृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ। यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम्॥

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः। न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदय-

होता है, जैसे रावण की सीता में रति से। यद्यपि वहाँ 'हास्यरस' का ही ढंग है, जैसा कि वचन है—'शृङ्गार से हास्य होता है'; तथापि यह सामाजिकों की पाश्चात्य (अन्त में होने वाली) स्थिति है। तन्मय होने की स्थिति में तो रति का ही आस्वाद होता रहता है, इस प्रकार शृङ्गारता ही भासित होती है, पौर्वापर्य (क्रम) के विवेक के अभाव के कारण—जैसे 'दूर ही से आकर्षण करनेवाले मोहमन्त्र के समान उसके नाम के कर्णगोचर होने पर०' इत्यादि में। तो यह शृङ्गाराभास ही[1] है। उस (शृङ्गार आदि रसाभास का) अङ्ग जो भावाभास है, चित्तवृत्ति जब प्रशम की अवस्था में प्रक्रान्त होती है तभी विशेष रूप से हृदय को आह्लादित करता है, इसी लिए 'भाव' शब्द से वह संगृहीत हुआ भी अलग से गणित है। जैसे—

'एक ही सेज पर एक दूसरे से मुँह फेर लेने के कारण निद्रा के समाप्त हो जाने के बाद संतप्त होते हुए, परस्पर एक दूसरे के प्रति अनुनय उनके हृदय में मौजूद था, तब भी गौरव की रक्षा करते हुए पति और पत्नी के नेत्र जब धीरे से अपाङ्ग की ओर झुकने के कारण मिल गए, तभी उनका प्रणय-रोष भग्न हो गया और वे हँस कर वेग-पूर्वक एक दूसरे का कण्ठग्रह कर पड़े।'

यहाँ ईर्ष्या-रोष रूप मान का प्रशम है। यह रसादि अर्थ 'तुम्हें लड़का हुआ है' इस वाक्य के श्रवण से जैसे हर्ष होता है, उस प्रकार नहीं है। और न लक्षणा से (वह प्रकाशित होता है)। अपितु, सहृदय जनों के हृदय के संवाद के बल से

१. क्योंकि रावण की सीताविषयक रति जब सहृदयों की रति से तन्मयीभाव प्राप्त करेगी तब शृङ्गार की चर्वणा होगी। तत्पश्चात् उन्हें यह मालूम होगा कि यह रति अनुचित आलम्बन में हो रही है। तभी हास का उद्बोध होगा, तभी शृङ्गार की चर्वणा शृङ्गाराभास-चर्वणा का रूप ले लेगी।

ध्वन्यालोकः

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्। विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः।

रसादिरूप तीसरा प्रभेद तो वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त हो प्रकाशित होता है, न कि वह साक्षात् शब्द-व्यापार का विषय होता है, इसलिए वह भी वाच्य विभिन्न ही है। जैसा कि उसका वाच्यत्व अपने शब्दों से निवेदित होने के रूप से अथवा विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा हो सकता है। पहले पक्ष में यदि अपने शब्द (रस अथवा श्रृङ्गार आदि नामों) के द्वारा निवेदित न होने पर रसादिकों की अप्रतीति का प्रसङ्ग होगा।

लोचनम्

संवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति। तदाह—*प्रकाशत* इति। तेन तत्र शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति। विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्म-हर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वनन-मेवोच्यते। *स्वशब्देति*। श्रृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदित-त्वेन। *विभावादीति*। तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः।

विभाव-अनुभाव की प्रतीति होने पर तन्मयीभाव के प्रकार से आस्वादित होता हुआ ही, सर्वथा रस्यमान रूप, सिद्ध स्वभाव वाला एवं सुखादिकों से विलक्षण (वह रसादि अर्थ) परिस्फुरित[1] होता है। उसे कहा है—प्रकाशित होता है—। इससे वहाँ अर्थ-सहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार है। पुत्रजन्म से हुए हर्ष के समान विभावादि अर्थ भी उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता. इस लिए 'जनन' से अतिरिक्त अर्थ का भी व्यापार 'ध्वनन' ही कहा जाना है। अपना शब्द—। 'श्रृङ्गार' आदि शब्द द्वारा अभिधा व्यापार के वश निवेदित होने के कारण। विभाव आदि—। अर्थात् तात्पर्य-शक्ति के द्वारा।

१. रसादि अर्थ उत्पन्न नहीं होता है बल्कि प्रकाशित होता है। सहृदय के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं। स्थायीभावों की रस रूप में परिणति के पूर्व सहृदय के हृदय का संवाद द्वारा जब विभाव आदि की प्रतीति हो जाती है तब तन्मयीभाव होता है, ऐसी स्थिति में रस आस्वाद्यमान होने लगता है, यह सुखादि से विलक्षण आत्मिक आनन्दानुभूति है।

उसके रहने पर कार्य हो, यह 'अन्वय' है (दे० पृ० ८२) और उसके अभाव में कार्य न हो यह 'व्यतिरेक' है—'तत्सत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः, तदभावे कार्याभावो व्यतिरेकः।' प्रस्तुत में आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वशब्द के अन्वयव्यतिरेक का निराकरण किया है अर्थात् 'श्रृङ्गार' आदि शब्द के रहने पर रसादि की प्रतीति नहीं होती है और उसके अभाव में भी रसादि की प्रतीति हो जाती है। किन्तु जहाँ ध्वनन व्यापार होता है वहीं रसादि की प्रतीति होती है।

ध्वन्यालोकः

न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः।

स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्।

किन्तु सर्वत्र उन (रसादिकों) का अपने शब्दों द्वारा निवेदितत्व नहीं। जहाँ कहीं भी वह है, वहाँ भी विशेष प्रकार से विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही उनकी प्रतीति है।

अपने शब्द से वह प्रतीति केवल अनूदित हो जाती है, उस (शब्द के बदौलत) कृत नहीं होती। क्योंकि विषयान्तर में उस प्रकार उसे नहीं देखते।

लोचनम्

तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वन्ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—*न च सर्वत्रेति*। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि। एवं व्यतिरेकाभावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति—*यत्रापीति*। *तदिति*। स्वशब्दनिवेदितत्वम्। *प्रतिपादनमुखेनेति*। शब्दप्रयुक्तया विभावादिप्रतिपत्त्येत्यर्थः।

वहाँ स्वशब्द (शृङ्गार आदि शब्द) के अन्वयव्यतिरेक को रस्यमानताप्राण रूप रस के प्रति, निराकरण करते हुए वे दोनों (अन्वय और व्यतिरेक) हैं यह दिखाते हैं—सर्वत्र वे शब्द द्वारा निवेदित नहीं होते हैं—। जैसे भट्ट इन्दुराज का—

'जो कि रुक-रुक कर विलोकनों में बहुत वार आँखें स्थैर्यरहित हो जाती हैं, जो कि अङ्ग-अङ्ग कटे हुए कमिलिनी के नाल की भाँति प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं, जो कि गालों पर दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला घना पीलापन छाया हुआ है, युवक कृष्ण के प्रति युवतियों की यही वेषरचना है।'

यहाँ अनुभाव-विभाव के बोधन के बाद ही तन्मयीभाव की युक्ति से उस विभाव-अनुभाव के अनुरूप वासना रूप चित्तवृत्ति से अनुरञ्जित स्वसंविदानन्द की चर्वणा का गोचर रस रूप अर्थ अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क आदि शब्द के अभाव में भी स्फुरित होता ही है। इस प्रकार व्यतिरेक का अभाव दिखाकर अन्वय का अभाव दिखाते हैं—जहाँ भी—। वह—। अर्थात् स्वशब्द द्वारा निवेदितत्व। प्रतिपादन के जरिए—। अर्थात् शब्द से प्रयुक्त विभाव की प्रतिपत्ति के द्वारा।

लोचनम्

सा केवलमिति । तथाहि—

> याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
> कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया ।
> तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
> येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते । उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव । सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठाशब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह—*विषयान्तर* इति । 'यद्विश्रम्य' इत्यादौ । न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदिति भावः ।

वह केवल— । जैसा कि—

'कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर उनके आस्फालनों के कारण फुकी हुई, कालिन्दीतट में उत्पन्न वेतसलता को आलिङ्गन करके उत्कण्ठायुक्त राधा ने अधिक वाष्प के कारण गद्गद एवं स्खलित होती हुई आवाज में वह गान किया जिससे कि भीतर पानी में रहने वाले जीव उत्कण्ठित हो शब्द करने लगे ।'

यहाँ विभाव-अनुभाव अम्लान रूप से प्रतीत होते हैं और उत्कण्ठा चर्वणा का गोचर बनती है । 'सोत्कण्ठा' शब्द केवल सिद्ध का साधन करता है । 'उत्क' के द्वारा उक्त अनुभावों को खींचने के उद्देश्य से 'सोत्कण्ठा'[1] शब्द का प्रयोग है, इस लिए अनुवाद भी अनर्थक नहीं । क्योंकि पुनः अनुभाव के प्रतिपादन के होने पर पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव होगा । जो कि (वृत्तिग्रन्थ में) 'न तु तत्कृता' (उसके द्वारा नहीं की गई है) कहा है उसका हेतु कहते हैं—विषयान्तर में— । 'जो कि

---

१. 'याते द्वारवतीं' इस पद्य में विभाव का भी वर्णन है और अनुभाव का भी वर्णन है । मधुरिपु और कालिन्दीतट आदि यहाँ क्रमशः आलम्बन और उद्दीपन विभाव हैं । और साथ ही उत्कण्ठा भी चर्वणा का गोचर हो रही है । किन्तु यहाँ भ्रम नहीं होना चाहिए कि उत्कण्ठा की प्रतीति स्वशब्द 'सोत्कण्ठा' से हो रही है, बल्कि पूर्वसिद्ध उत्कण्ठा की प्रतीति का यह शब्द अनुवादक मात्र है अर्थात् यह केवल सिद्ध का साधन करता है । ऐसी स्थिति में अनुवाद को अनर्थक समझना ठीक न होगा, क्योंकि कवि ने आगे उत्कण्ठित होकर जलचारियों के कूजन का जिक्र किया है और पहले जो 'उत्कण्ठा' का प्रयोग करता है उससे दोनों स्थानों के अनुभावों का समन्वय कवि का यहाँ अभीष्ट है । इसलिए आचार्य लिखते हैं कि आगे के 'उत्क' से उक्त अनुभाव के अनुकर्षणार्थ 'सोत्कण्ठा' शब्द का प्रयोग किया है । अन्यथा केवल पुनः अनुभाव का प्रतिपादन मात्र यहाँ कवि को अभी माना जाय तो पुनरुक्ति होगी और तन्मयीभाव भी नहीं सिद्ध होगा । यह सारी बातें जिस तात्पर्य से कही गई हैं वह यह है कि स्वशब्द के साथ रसादि की प्रतीति के अन्वय-व्यतिरेक का अभाव है । प्रस्तुत में 'सोत्कण्ठा' रूप स्वशब्द के निवेदन होने पर भी उत्कण्ठा की प्रतीति लतालिङ्गन आदि रूप अनुभाव के प्रतिपादन के द्वारा ही होती है । 'सोत्कण्ठा' शब्द केवल इस प्रतीति का अनुवादक मात्र है । यह अनुवाद भी, जैसा कि आचार्य का कहना है, अनर्थक नहीं ।

ध्वन्यालोकः

न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।

उस काव्य में, जहाँ केवल शृङ्गार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो, थोड़ी मात्रा में भी रसवत्ता की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि स्वशब्द का अभिधान न हो तो भी केवल विशिष्ट विभाव आदि द्वारा रसादि की प्रतीति होती है। केवल स्वशब्द के अभिधान से प्रतीति नहीं होती। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा रसादिकों का अभिधेय (वाच्य) के सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व ही सिद्ध होता है, न कि किसी प्रकार अभिधेयत्व (वाच्यत्व) है। इस प्रकार तीसरा भी प्रभेद वाच्य से भिन्न ही है; यह ठहरा। वाच्य से इसकी साथ ही जैसी प्रतीति होती है, इसे आगे चलकर दिखायेंगे।

लोचनम्

अदर्शनमेव द्रढयति—*न हीति*। केवलशब्दार्थं स्फुटयति—*विभावादीति*। *काव्य इति*। तव मते काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः। *मनागपीति*।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

इत्यत्र। एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य तथैवोपसंहरति—*यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन*। अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये, अभिधेयस्य च

रुक-रुक करके' इत्यादि स्थल में। भाव यह कि उसके अभाव में भी जो होता है वह उसके द्वारा किया नहीं जाता है। (विषयान्तर में होनेवाले) अदर्शन पर ही जोर देते हैं—न कि—। 'केवल' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—विभावादि—। काव्य में—। अर्थात् तुम्हारे मत में काव्य के रूप में प्रसज्यमान। थोड़ा भी—।

'शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत नाम के ये आठ रस नाट्य में माने गए हैं।'

यहाँ। इस प्रकार स्वशब्द के साथ रसादि का व्यतिरेकाभाव और अन्वयाभाव उपपत्तिपूर्वक दिखाकर उसी प्रकार उपसंहार करते हैं—क्योंकि से लेकर—किसी प्रकार—तक के ग्रन्थ से। जब शब्द का रसध्वनन व्यापार कर्तव्य होगा तब

लोचनम्

पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वानुमितरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यं शक्तिः विशिष्टसमुचितो वाचकसाकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः, द्वितीयस्तु कथञ्चिद् दूषितः कथञ्चिदङ्गीकृतः, जननानुमानव्यापाराभिप्रायेण दूषितः, ध्वननाभिप्रायेणाङ्गीकृतः।

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्; न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना। इतिशब्दो हेत्वर्थे। 'इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवे'ति सम्बन्धः। *सहेवेति*। इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यत इति तद्दर्शयति—*अग्र* इति। द्वितीयोद्द्योते॥ ४॥

अभिधेय (वाच्य अर्थ) ही सामर्थ्य सहकारिशक्ति रूप विभाव आदि होगा। और जब अभिधेय का ध्वनन रूप कार्य होगा, ऐसी स्थिति में पुत्रजन्म के हर्ष से भिन्न होने के कारण जो ध्वनन होगा वह उत्पत्ति से अतिरिक्त होगा, तथा दिन में भोजनाभावविशिष्ट पीनत्व द्वारा अनुमित रात्रिभोजन से विलक्षण होने के कारण 'अनुमान' से भी ध्वनन व्यापार अलग होगा, फिर सामर्थ्य अर्थात् शक्ति, विशिष्ट एवं समुचित अर्थात् वाचक से परिपूर्णत्व रूप सिद्ध होती है। इसलिए ध्वनन व्यापार शब्द और अर्थ दोनों का है।[1] इस प्रकार दो पक्षों को उपक्रम करके पहले पक्ष को दूषित किया और कुछ अंश में अङ्गीकार किया। जनन (उत्पत्ति) और अनुमान के व्यापार के अभिप्राय से दूषित किया और 'ध्वनन' के अभिप्राय से अङ्गीकार किया।

जो कि यहाँ 'तात्पर्य-शक्ति' को 'ध्वनन' मानता है वह वस्तुतत्त्व (यथार्थ) को जानने वाला नहीं है, क्योंकि विभावानुभाव के प्रतिपादक वाक्य में तात्पर्य-शक्ति भेद में अथवा संसर्ग में पर्यवसित होगी, न कि रस्यमानतासार रस में। इस पर अब ज्यादा कहना व्यर्थ है। 'इति' (इस प्रकार) शब्द हेत्वर्थक है। सम्बन्ध यह है कि इस हेतु से भी तीसरा प्रकार भी वाच्य से भिन्न ही ठहरता है। 'साथ की तरह'—। 'इव' ('तरह') शब्द के द्वारा यह दिखाते हैं कि रहता हुआ भी क्रम संलक्षित नहीं होता—आगे—। दूसरे उद्योत में।

---

१. वृत्तिग्रन्थ में रसादि को जो अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त कहा है वह सर्वथा ध्वनन व्यापार से ही गम्य है। जब शब्द से रस का ध्वनन होता है तब अभिधेय या वाच्य ही विभावादि रूप से सहकारि शक्ति रूप सामर्थ्य होता है और इससे होने वाला ध्वनन न तो पुत्रजन्म से उत्पन्न हर्ष जैसा उत्पन्न होता है और न तो उसे दिन के भोजन के अभाव में रात्रि के भोजन के अनुमान जैसा अनुमान कहा जा सकता है। ध्वनन शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है। इस प्रकार आचार्य ने यहाँ रसादि का शब्द-शब्दनिवेदितत्व को दूषित किया है और विभावादि प्रतिपादन के ढंग को जनन और अनुमान के अभिप्राय से दूषित करके भी ध्वनन के अभिप्राय से स्वीकार किया है, क्योंकि ध्वनन इन दोनों से भिन्न व्यापार है।

यहाँ पुरानी शंका पुनः खड़ी होती है कि जब आप यह स्वीकार कर रहे हैं कि रसादि

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ५ ॥

काव्य का आत्मा वही अर्थ है, जैसा कि पुराकाल में क्रौञ्च-पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक आदिकवि का श्लोक बन गया ॥ ५ ॥

लोचनम्

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम्। अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति—*काव्यस्यात्मेति*। स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे'ति सामान्येनोक्तम्। *शोक* इति। क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरी-

इस प्रकार 'प्रतीयमान फिर दूसरा ही' इतने से ध्वनि के स्वरूप का व्याख्यान किया। अब ध्वनि का काव्यात्मत्व इतिहास के व्याज से दिखाते हैं—काव्य का आत्मा—। 'वही' यह (कथन) यद्यपि प्रतीयमान मात्र में प्रक्रान्त है तथापि तीसरा 'रसध्वनि' ही (काव्यात्मा) रूप मन्तव्य है। एक तो इतिहास के बल से और दूसरे प्रक्रान्त वृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल से। इस लिए रस ही वस्तुतः आत्मा है, वस्तुध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि सर्वथा रस के प्रति पर्यवसित होते हैं अतः वे वाच्य से उत्कृष्ट हैं। इस अभिप्राय से 'ध्वनि काव्य का आत्मा है' यह सामान्य रूप से कहा है। शोक—। क्रौञ्च के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरी क्रौञ्ची के मारे जाने से, साहचर्य

वाच्य-सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं, तो ऐसा क्यों न माना जाय कि 'ध्वनन' तात्पर्य शक्ति ही है। इस प्रकार चतुर्थ कक्षा में रहने वाले अतिरिक्त व्यापार की कल्पना का गौरव नहीं करना पड़ता है ? क्योंकि तात्पर्य शक्ति वहीं है जो अभिधेय या वाच्य के अविनाभाव की सहायता से अर्थबोधन की शक्ति है। इस पर आचार्य का कहना है कि जैसा हम पहले कह चुके हैं तात्पर्य शक्ति या तो भेद में पर्यवसित होती है, अर्थात् कर्मान्तर और क्रियान्तर के भेद रूप वाक्यार्थ में पर्यवसित होती है, या तो संसर्ग में, अर्थात् परस्पर पदार्थों के संसर्ग में पर्यवसित होती है और रस को सर्वथा आस्वाद्यमान रूप है ऐसी स्थिति में उसका रस में पर्यवसान असम्भव है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के अतिरिक्त यह भी एक हेतु है जिससे रसादि तृतीय प्रकार वाच्य से सर्वथा भिन्न ही ठहरता है।

वाच्य की प्रतीति और रसादि रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति कुछ इस शीघ्रता से होती है जिससे उन दोनों का क्रम अभिलक्षित नहीं होता। इसलिए रसादि को 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' कहा गया है। इसी लिए वृत्तिकार ने वाच्यादि के साथ इसकी प्रतीति 'साथ की तरह' होती है यह कहा है। ऐसा नहीं कि वाच्यादि के साथ रस की प्रतीति होती है। यह विषय 'द्वितीय उद्योत' में निर्दिष्ट होगा।

लोचनम्

हननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः—

(साथ) के ध्वंस हो जाने के कारण उत्पन्न जो शोक रूप स्थायीभाव, निरपेक्षभाव होने के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के उचित रतिरूप स्थायीभाव से अतिरिक्त ही है। वही (शोक) उस प्रकार के विभाव और उससे उत्पन्न आक्रन्द आदि अनुभाव की चर्वणा द्वारा, हृदय के संवाद और फिर तन्मयीभाव के क्रम से आस्वाद्यमान अवस्था को प्राप्त, लौकिक शोक के अतिरिक्त, चर्वयिता के अपने चित्त की द्रुति के द्वारा समास्वाद्य-सार करुणरसरूपता को प्राप्त, जैसे जल से भरा घड़ा झलकता है और जैसे चित्तवृत्ति के निष्यन्द रूप वाग्विलाप आदि होते हैं उसी प्रकार 'समय' (शब्द के सङ्केत) की अपेक्षा न रखने पर भी (वचन) चित्तवृत्ति के व्यञ्जक होते हैं' इस न्याय से अकृत्रिम रूप से ही, आवेश के कारण, समुचित शब्द, छन्द, वृत्त आदि से नियन्त्रित हुआ, 'श्लोक' की अवस्था को प्राप्त होता है'—

१. 'शोक श्लोक की अवस्था को प्राप्त है' आचार्य आनन्दवर्धन का यह निर्देश एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करता है, जो 'वाल्मीकीय रामायण' से विदित होती है। किसी समय वाल्मीकि अपने आश्रम से समित्कुशाहरण के लिए निकल कर वनप्रान्त में घूम रहे थे। तभी उन्होंने व्याध के द्वारा वाण से विधे एक क्रौञ्च को देखा, जिसके वियोग-व्यथा से व्याकुल होकर क्रौञ्ची अत्यन्त कातर होकर चिल्ला रही थी। तत्काल ऋषि के मुख से शापयुक्त छन्दोमयी वाणी निकल पड़ी, जो निर्दिष्ट 'मा निषाद' के रूप में प्रसिद्ध है। इसे ही 'शोकः श्लोकत्वमागतः' कहा गया है। महाकवि कालिदास ने भी 'रघुवंश महाकाव्य' के चौदहवें सर्ग में इस घटना का स्मरण किया है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

प्रस्तुत में आचार्य ने 'रस' को काव्य का आत्मा सिद्ध करने के उद्देश्य से इस प्रसंग का उल्लेख किया है। लोचनकार ने इस प्रसंग का जो व्याख्यान किया है उसका स्पष्टीकरण यह है—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायीभाव रति तब होती है जब नायक-नायिका दोनों विद्यमान रहते हैं, केवल दोनों का एकमिलन न सम्पन्न होने के कारण दोनों में सापेक्षता रहती है अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार की रति सापेक्ष भाव है। इसके विपरीत शोक रूप स्थायीभाव में आलम्बन विभाव नायिका और नायक में कोई एक दिवङ्गत हो जाता है और पुनर्मिलन की आशा समाप्त हो जाती है अर्थात् शोक रूप स्थायीभाव निरपेक्ष होता है। प्रस्तुत पद्य 'मा निषाद' में क्रौञ्च के जोड़े में से एक व्याध के वाण से मारा गया है इस प्रकार साहचर्य के ध्वंस होने से यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायीभाव रति न होकर करुण का स्थायी भाव शोक ही माना गया है।

लोचनम्

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ।

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति । एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशाब्दवैलक्षण्यकारकः ।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' इति ।

'हे व्याध, काम से मोहित क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को तू ने मार डाला है इसलिए अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा को प्राप्त न हो ।'

न कि मुनि का शोक है यह मानना चाहिए[1] । क्योंकि ऐसा होने पर उस (क्रौञ्च) के दुःख से वह भी दुखित हो जाते हैं, फिर रसात्मकता की बात नहीं बनेगी । दुःख से जो प्राणी सन्तप्त हो उसकी ऐसी दशा (कि शाप देने के लिए श्लोक का निर्माण करे) नहीं होती । इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकरूप स्थायीभाव वाले करुणरस से प्रवाहित होने के स्वभाव के कारण वही काव्य का आत्मा अर्थात् सारभूतस्वभाव एवं दूसरे शाब्दबोध से वैलक्षण्य करने वाला है ।

'हृदयदर्पण' में इसे ही कहा है—'जब तक इस रस से भर नहीं जाता तब तक

यहाँ क्रौञ्च रूप आलम्बन में उत्पन्न शोक आक्रन्दन आदि अनुभावों की चर्वणा से अलौकिक स्थिति में हृदय-संवाद और तन्मयीभाव के क्रम से आ जाता है । इस प्रकार ऋषि ने उस अलौकिक शोक को चित्त की द्रुति द्वारा आस्वादन किया । यह आस्वादन उस शोक का परिवर्तित रूप 'करुण रस' ही है । इस प्रकार जब ऋषि ने करुण रस का अनुभव किया तभी उनके मुख से छन्दोमयी वाणी अनायास निकल पड़ी, यह उसी प्रकार हुआ जैसे की भरा हुआ घड़ा छलक पड़ता है अथवा जैसे दुःख आदि की चित्तवृत्ति के होने पर अनायास मुंह से शब्द निकल पड़ते हैं । इस प्रकार शोक करुण रस की स्थिति में पहुँच कर श्लोक बन गया ।

क्रौञ्च
|
शोक (लौकिक)

वाल्मीकि
|
शोक (अलौकिक)
|
(हृदयसंवाद और तन्मयीभाव)
|
करुणरस
|
छन्दोमयी वाणी

१. आचार्य का यह भी निर्देश है कि शोक को भ्रम से मुनि का नहीं समझ लेना चाहिए । अन्यथा क्रौञ्च के दुःख से सन्तप्त ऋषि के मुख से इस प्रकार श्लोक-रचना अस्वाभाविक प्रतीत होती है । अतः वह शोक वस्तुतः ऋषि के द्वारा आस्वाद्यमान होकर अलौकिक हो गया और ऋषि ने चित्तद्रुति के द्वारा उसे करुण रस की स्थिति में अनुभव किया, जो सर्वथा आनन्दमयता की स्थिति है । इस प्रकार इस युक्ति से करुण रस ही प्रस्तुत छन्दोमयी वाणी का सार होने के कारण 'काव्य का आत्मा' निश्चित होता है ।

ध्वन्यालोकः

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

विविध वाच्य, वाचक और रचना के प्रपञ्च से सुन्दर काव्य का वही अर्थ सारभूत है। जैसा कि आदिकवि वाल्मीकि का निहत[1] सहचरी के वियोग से कातर क्रौञ्च की चीख (आक्रन्द) से उत्पन्न शोक ही श्लोकरूप से परिणत हो गया।

लोचनम्

अगम इति च्छान्दसेनाडागमेन। *स एवेत्येवकारेणेदमाह*—नान्य आत्मेति। तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्।

इति तदपास्तम्। व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्वमुक्तम्। अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यं नेत्यावेदितं प्राक्।

श्लोकं व्याचष्टे—*विविधेति*। विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायां च प्रपञ्चेन यच्चारु शब्दार्थालङ्कारगुणयुक्त-

उसे वमन नहीं करता है।' (वाल्मीकि के पद्य में) 'अगमः' में वैदिक नियमानुसार अडागम हुआ है। 'वही' इस 'एव' ('ही') कहने से यह कहा है—दूसरा आत्मा नहीं है। इस लिए जो कि 'भट्टनायक' कहते हैं—

'शब्द के प्राधान्य का आश्रयण करके शास्त्र को अलग मानते हैं, अर्थतत्त्व से युक्त को 'आख्यान' कहते हैं और इन दोनों (शब्द-अर्थ) के गुणीभूत होने की स्थिति में व्यापार का प्राधान्य होने पर काव्य की धी होती है।'

वह निरस्त हो जाता है। यदि ध्वनन रूप व्यापार रसना-स्वभाव है आपने अपूर्व नहीं कहा। यदि अभिधा ही व्यापार है तथापि उसका प्राधान्य नहीं है, यह पहले बताया जा चुका है।

श्लोक की व्याख्या करते हैं—विविध—। विविध अर्थात् उस-उस अभिव्यञ्जनीय रस के आनुगुण्य से विचित्र बनाकर, वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च जो चारु

१. 'वाल्मीकि रामायण' में उल्लिखित 'क्रौञ्चवध' घटना के अनुसार क्रौञ्च के जोड़े में से नर क्रौञ्च का ही वध निर्दिष्ट है और उसके वियोग में क्रौञ्ची रुदन करती है—**'तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले। दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा॥'** प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रौञ्चयुगल में सहचरी के वध और क्रौञ्च के आक्रन्द का उल्लेख है, इतना ही नहीं, 'लोचन' से भी सहचरी क्रौञ्ची का वध ही सिद्ध होता है। साथ ही 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने भी 'निषादनिहतसहचरीकं क्रौञ्चयुवानम्' उल्लेख द्वारा क्रौञ्ची का वध माना है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है

लोचनम्

मित्यर्थः। तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव। तेनैतन्निरवकाशम्; यदुक्तं हृदयदर्पणे—'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यात्' इति। *निहतसहचरीति* विभाव उक्तः। *आक्रन्दितशब्देनानुभावः। जनित* इति। चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः।

अर्थात् शब्द और अर्थ के अलङ्कार और गुणों से युक्त है। इस लिए सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी काव्य का व्यवहार नहीं होता है।[1] पहले ही कह चुके हैं कि आत्मा के सद्भाव में भी कहीं-कहीं पर ही 'जीव' का व्यवहार होता है। इस लिए इस बात का कोई अवकाश ही नहीं जो कि 'हृदयदर्पण' में कही गई है—'तब तो सर्वत्र काव्य का व्यवहार होगा।' 'निहतसहचरी' के द्वारा विभाव कहा है, 'आक्रन्दित' से अनुभाव। उत्पन्न—। शेष यह कि चर्वणा के गोचर होने से।

कि यदि वृत्तिकार, लोचनकार एवं राजशेखर तीनों ने यह जानते हुए कि 'रामायण' में क्रौञ्च के ही वध का निर्देश है, प्रस्तुत में जो विरुद्धार्थ का प्रतिपादन किया है, उसमें निमित्त क्या है ?

दीधितिकार ने मूल वृत्तिग्रन्थ और लोचन का पाठ ही परिवर्तित कर दिया है, उनका पाठ है—'निहतसहचर-विरहक्रौञ्च्याक्रन्दजनितः।' परन्तु कुछ लोगों ने क्लिष्ट समास करके मूल का परिवर्तन न करते हुए भी व्याख्यान किया है जिससे उनका अभिमत क्रौञ्च का वध और क्रौञ्ची का आक्रन्द सिद्ध हो जाता है, इसके अनुसार—'निहतः सहचरीविरहकातरः यः क्रौञ्चः तदुद्देश्यकः क्रौञ्चीकर्तृको यः आक्रन्दः तज्जनितः' होगा। इस प्रकार रामायण का विरोध भी नहीं होता और न यथास्थित मूल का परिवर्तन ही करना पड़ता है। कुछ विद्वानों का तीसरा पक्ष यह है कि क्यों न यही माना जाय कि रामायण का विरोध होने पर भी यथास्थित मूल का पाठ ही ठीक है ? यह इस लिए भी कह सकते हैं कि ध्वन्यालोक और लोचन की प्रायः सभी प्रतियों में ऐसा ही पाठ मिलता है। उसे सर्वथा 'गलत' करार देना ठीक नहीं कहा जा सकता। दूसरे, उपपत्ति यह मिलती है कि 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ प्रधान रूप से ध्वनि का प्रतिपादन करता है, अतः इसे ध्वन्यर्थ ही अभिप्रेत है। 'मा निषाद०' का भी ध्वन्यर्थ है कि 'हे निषाद ! (रावण !) राम और सीता के जोड़े में से एक को (अर्थात् सीता को) जो तू ने वध किया (बल्कि वध से भी अधिक पीड़ा दी) उस कारण तू (लङ्का में अधिष्ठान रूप) प्रतिष्ठा को न प्राप्त कर।' तो, नहीं स्वीकार किया जाय कि ध्वन्यालोककार ने जानबूझ कर रामायण की घटना को अपने अनुकूल ढालकर ध्वन्यर्थ के उचित यह उदाहरण प्रस्तुत किया है ! यह ध्वन्यर्थ 'रामायण' के प्राचीन टीकाकारों के अनुसार एवं करुण रस के अनुकूल है। अतः यह पक्ष बहुत अंश में मन्तव्य प्रतीत होता है।

१. यह तो सिद्धान्त ही है कि ध्वनि काव्य का आत्मा है, सारभूत तत्त्व है। किन्तु सारभूत उस ध्वनि तत्त्व के रहने मात्र से काव्य की पूर्णता नहीं होती, किन्तु उसके साथ ही उस काव्य को अभिव्यञ्जनीय रस के आनुगुण्य से वाच्य, वाचक और रचना के प्रपञ्च से 'चारु' होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रस के अनुकूल शब्द और अर्थ के अलङ्कार और गुण का भी वहाँ योग होना चाहिए। अन्यथा ध्वनि तो बिलकुल साधारण किसी वाक्य में भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र 'ध्वनि' के व्यवहार की आपत्ति का वारण नहीं हो सकता। जैसा कि लोक में भी देखते हैं कि आत्मा के सद्भाव होने पर भी जीव का व्यवहार सर्वत्र नहीं, बल्कि कहीं-कहीं पर ही होता है। वही स्थिति प्रस्तुत में समझनी चाहिए। इसी उद्देश्य से मूल वृत्तिग्रन्थ में 'काव्य' के विशेषण रूप में 'विविधवाच्यवाचक-रचनाप्रपञ्चचारु' कहा है।

ध्वन्यालोकः

शोको हि करुणस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।

शोक करुण का स्थायीभाव है। प्रतीयमान के अन्य भेदों के रहते हुए भी प्राधान्य के कारण रस और भाव द्वारा ही उनका उपलक्षण (बोधन) है।

लोचनम्

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह—*शोको हीति*। करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायिभावः। शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते। प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः। ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरमाह—*प्रतीयमानस्य चेति*। अन्यो भेदो वस्त्वलङ्कारात्मा। *भावग्रहणेन*

यदि शोक की चर्वणा से श्लोक उद्भूत हुआ तो प्रतीयमान (रसरूप) वस्तु 'काव्य का आत्मा' कैसे है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—शोक। उस (शोक) की चर्वणा के विषय रूप करुण का स्थायीभाव। शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव, अनुभाव हैं उनके समुचित चित्तवृत्ति चर्व्यमाण रूप रस हो जाती है, इस औचित्य के बल से स्थायीभाव रस की अवस्था को प्राप्त करता है, ऐसा कहा जाता है। पहले अपने में संविदित (अनुभूत) और दूसरे में अनुमित चित्तवृत्तिसमूह संस्कार के क्रम से हृदय-संवाद को प्राप्त करता हुआ चर्वणा[1] में उपयोगी होता है। जब कि प्रतीयमान रूप आत्मा है, उसमें तीन भेदों का प्रतिपादन हुआ है न कि एकमात्र रस रूप प्रतीयमान (ही प्रतिपादित है), और इस इतिहास से रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है, यह आशङ्का करके अभ्युपगम द्वारा ही उत्तर कहते हैं—प्रतीयमान के—। अन्य भेद अर्थात् वस्तु और अलङ्कार रूप भेद। 'भाव'[2] के ग्रहण से चर्वणा के गोचर व्यभिचारीभाव की उतने मात्र में विश्रान्ति न होने पर भी, स्थायी-

१. 'चर्वणा' एक पुनः पुनः आस्वादन रूप अलौकिक व्यापार है। इसी के द्वारा चित्तवृत्ति का रसानुभूति की अवस्था में आस्वादन होता है। इसके पूर्व चित्तवृत्ति हृदय-संवाद की स्थिति में आकर तन्मयीभाव को प्राप्त करती है। तभी उसकी 'चर्वणा' होती है। यह प्रसंग पहले भी आ चुका है।

२. रस के साथ भाव के उल्लेख का तात्पर्य यह है कि भाव के व्यञ्जित होने पर भी काव्यात्मत्व सुरक्षित रहता है। यद्यपि व्यभिचारी भाव, चर्वणा की स्थिति में न तो स्वरूप मात्र में विश्रान्त होगा और न रस की प्रतिष्ठा को, जो स्थायी भाव की चर्वणा से प्राप्त होती है, प्राप्त करेगा। तथापि उस व्यभिचारी भाव की चर्वणा से भी चमत्कार अवश्य होता है इस लिए भाव आदि भी संग्राह्य हैं।

ध्वन्यालोकः

**सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥६॥**

उस स्वादु (रसस्वभावरूप) अर्थ वस्तु को प्रवर्तित करती (प्रवाहित करती) हुई महाकवियों की सरस्वती (वाणी) अलौकिक, परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्त करती है ॥ ६ ॥

लोचनम्

व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्राविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम् । यथा—

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम् ।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती ॥

इत्यत्र लज्जायाः । रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि संगृहीतावेव; अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात् । *प्राधान्यादिति* । रसपर्यवसानादित्यर्थः । तावन्मात्राविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भावः ॥ ५ ॥

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्य स्वसंवित्सिद्धमप्येतदिति दर्शयति—*सरस्वतीति* । वाग्रूपा भगवतीत्यर्थः । वस्तुशब्देनार्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे—*निःष्यन्दमानेति* । दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः । यदाह भट्टनायकः—

भाव की चर्वणा के पर्यवसान रूप उचित रस की प्रतिष्ठा को न प्राप्त करके भी प्राणत्व बन जाता है, यह कहा है । जैसे—

'नख को नखाग्र से लिखती, चंचल वलय को घुमाती और गम्भीर स्वर में बजते नूपुरों से युक्त अपने पैर से धीरे-धीरे जमीन पर लिखती हुई ।'

यहाँ लज्जा का । 'रसभाव' शब्द से उनके आभास और प्रशम भी संगृहीत ही हुए; क्योंकि अवान्तर वैचित्र्य होने पर भी वे एक ही रूप के हैं । प्राधान्य से— । अर्थात् रस में पर्यवसान से । भाव यह कि वस्तु अलङ्कार के स्वरूप मात्र में विश्रान्ति के न होने पर भी दूसरे शब्द से वैलक्षण्यकारी होने के कारण वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि का भी जीवितत्व औचित्य से कहा है ।

इस प्रकार इतिहास के प्रकार से 'प्रतीयमान' का काव्यात्मत्व प्रदर्शित करके '(सहृदय जनों के) अपने अनुभव से भी सिद्ध है' यह दिखाते हैं—सरस्वती— । 'वस्तु' शब्द से 'अर्थ' शब्द की और 'तत्त्व' शब्द से 'वस्तु' शब्द की व्याख्या करते हैं[1]—प्रवाहित करती हुई— । अर्थात् दिव्य आनन्द को स्वयं ही प्रस्तुत करती हुई । जैसा कि भट्टनायक ने कहा है—

१. कारिकाग्रन्थ में 'अर्थवस्तु' का प्रयोग है और वृत्तिग्रन्थ में उसकी व्याख्या 'वस्तु' शब्द से

लोचनम्

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥

तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या हि यो योगिभिर्दुह्यते। अत एव—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥

इत्यनेन साराग्र्यवस्तुपात्रत्वं हिमवत उक्तम्। 'अभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तमि'ति। प्रतिपत्तॄन् प्रति सा प्रतिभा नानुनीयमाना, अपि तु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः। यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' इति। 'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा; तस्या

'(सहृदय जन रूप) वत्स में स्नेह के कारण वाणीरूप धेनु इस रस को जो कि प्रस्तुत करती है, इस लिए इसके समान वह (रस) रस नहीं हो सकता जिसे योगी लोग दुहा करते हैं।'

जिसे योगी लोग रसावेश के विना ही केवल बलात्कारपूर्वक दुहा करते हैं। अत एव'—

'दोहन कार्य में चतुर दुहने वाले मेरुपर्वत के विद्यमान रहने पर सारे पर्वतों ने जिस हिमालय को वत्स बनाकर पृथु के द्वारा प्रदर्शित पृथिवी से प्रदर्शित चमकदार रत्नों और महौषधियों का दोहन किया।'

इससे सारवस्तुओं का पात्रत्व हिमवान् का कहा है। 'परिस्फुरित होते हुए को अभिव्यञ्जित करती है।' अर्थात् प्रतिपत्ता (सहृदय) जनों के प्रति वह प्रतिभा अनुमीयमान नहीं होती, बल्कि उसके (प्रतिभा के विषयीभूत रस के) आवेश से भासित होता है। जैसा कि हमारे उपाध्याय भट्ट तौत ने कहा है—'नायक, कवि और श्रोता का उससे (उस कारण) समान अनुभव होता है।' अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा 'प्रतिभा' (कहलाती) है, उसका 'विशेष', रसावेश के कारण

की गई है। लोचनकार का कहना है कि 'वस्तु' शब्द 'अर्थ' की व्याख्या है और 'तत्त्व' शब्द 'वस्तु' की व्याख्या है। तात्पर्य यह कि वस्तु, अलङ्कार और रस रूप अर्थों अर्थात् वस्तुओं में जो वस्तु अर्थात् तत्त्व या सार।

१. आचार्य ने महाकवियों की वाणी को व्यङ्ग्यार्थ को प्रवाहित करने वाली कहा है। यह एक प्रकार की धेनु है जो सहृदयरूपी वत्सों को स्वयं दिव्य रस पिलाकर आनन्दित करती है। यहाँ लोचनकार ने 'वचन' उद्धृत करके यह निर्देश किया है कि वह आनन्द, जो सहृदयों को कविता से प्राप्त होता है, तथा वह आनन्द, जो योगियों को समाधि में मिलता है, दोनों में बहुत अन्तर है। इस प्रकार कवियों के प्रतिभा-विशेष का पता चलता है। जो कविता जितना ही रस का अनुभव कराती है उतना ही उससे कवि की प्रतिभाविशेष का अन्दाजा मिलता है। और उसी अभिव्यक्त प्रतिभा-विशेष के आधार पर ही कवि की महाकवि की कोटि में गणना होती है। संसार में हजारों की संख्या में कवि होते आए हैं, किन्तु वह प्रतिभा-विशेष का ही चमत्कार है जो कालिदास प्रभृति कुछ ही कवि महाकवि की श्रेणी में आते हैं।

ध्वन्यालोकः

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ ७॥

उस वस्तुतत्त्व को प्रवाहित करती हुई महान् कवियों की सरस्वती (वाणी) परिस्फुरित होते हुए अलोकसामान्य प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्त करती है। जिससे अतिविचित्र कवियों की परम्परा से युक्त इस संसार में कालिदास प्रभृति दो-तीन अथवा पाँच-छः महाकवि गिने जाते हैं।

और यह दूसरा प्रतीयमान अर्थ के सद्भाव का साधन प्रमाण है—

केवल शब्द-अर्थ के शासनों (नियमों) के ज्ञानमात्र से नहीं जाना जाता है, बल्कि केवल वह तो काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है॥ ७॥

लोचनम्

'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। यदाह मुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावम्' इति। *येनेति*। अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत्॥ ६॥

इदं *चेति*। न केवलं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूपविषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामग्रीवेद्यत्वमपि वाच्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावत्। *वेद्यत* इति। न तु न वेद्यते, येन न स्यादसाविति भावः। काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्।

उत्पन्न वैशद्यप्रयुक्त सौन्दर्य रूप काव्य-निर्माण की क्षमता है। जैसा कि मुनि ने कहा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को।' जिससे—। मतलब यह कि अभिव्यक्त या स्फुरित होते हुए प्रतिभा विशेष रूप निमित्त से महाकवित्व की गणना (कहाकवियों में गणना) होती है।

और यह—। न केवल 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका से सूचित स्वरूप और विषयगत भेद, बल्कि भिन्न सामग्री द्वारा वेद्यत्व भी (प्रतीयमान = व्यङ्ग्य के) वाच्य से अतिरिक्त (पृथक्) होने में प्रमाण है। जाना जाता है—। भाव यह कि न कि नहीं जाना जाता है जिससे वह नहीं होता। काव्य का तत्त्वभूत जो अर्थ उसकी भावना, वाच्य के अतिरेकपूर्वक निरन्तर चर्वणा उसमें विमुख। स्वर, षड्ज

ध्वन्यालोकः

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।

वह अर्थ जिस कारण काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है। और, यदि वह अर्थ वाच्यरूप ही होता तो वाच्य और वाचक के रूप के परिज्ञान से ही उसकी प्रतीति होती। और भी, वाच्य-वाचक के लक्षणमात्र में जिन्होंने श्रम किया है तथा काव्यतत्त्वार्थ की भावना से पराङ्मुख हैं उनके लिए यह अर्थ, गाने में असमर्थ किन्तु सङ्गीतशास्त्र (गान्धर्व) के लक्षणों को जाननेवालों के लिए स्वर और श्रुति आदि के तत्त्व की भाँति, अगोचर ही है।

लोचनम्

स्वराः षड्जादयः सप्त। श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणा स्वरतदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिविधा। आदिशब्देन जात्यंशकग्रामरागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते। प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, गातुं वा प्रारब्धा इत्यादिकर्मणि क्तः। प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते॥ ७॥

आदि सात। शब्द का वैलक्षण्यकारी जो रूपान्तर है उसके परिमाण की 'श्रुति' होती है वह स्वर, स्वरान्तराल, और उभय के भेद से बाईस[1] प्रकार की होती है। 'आदि' शब्द से जात्यंश, ग्राम, राग, भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा, देशी मार्ग गृहीत होते हैं। प्रकृष्ट गीत या गान है जिनका वे 'प्रगीत' हैं अथवा गाने के लिए 'प्रारब्ध' इस प्रकार 'आदिकर्म' में 'क्त' प्रत्यय है। यहाँ 'प्रारम्भ' से फलपर्यन्तता लक्षित होती है।

१. मूल में 'अप्रगीत' और 'प्रगीत' दोनों पाठ हैं। लोचनकार ने दोनों के अनुसार व्याख्यान किया है; 'अप्रगीत' का अर्थ करते हैं कि वे लोग प्रगीत नहीं अर्थात् प्रकृष्ट गान नहीं करते हैं। 'प्रगीत' का व्याख्यान है कि जिन्होंने गान का प्रारम्भ ही किया है अर्थात् जो अभी गाने में सफल नहीं हैं। स्पष्टार्थ यह कि जिस प्रकार गान-विद्या में निपुणता हासिल कर लेने वाला यदि गान का अभ्यास न करने पर स्वर और श्रुति आदि के तत्त्वों से अपरिचित रहता है उसी प्रकार केवल वाच्य-वाचक मात्र में श्रम करने वाले तथा काव्यतत्त्वार्थ की भावना से विमुख लोग उस प्रतीयमान अर्थ को नहीं समझ सकते। स्वर और श्रुति आदि सङ्गीत-शास्त्रीय तत्त्वों का विश्लेषण ग्रन्थान्तर से अवगत करना चाहिए। 'सङ्गीतरत्नाकर' में इनका विवेचन विशद रूप से मिलता है।

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

इस प्रकार वाच्य से व्यतिरेक (पार्थक्य) रखनेवाले व्यंग्य का सद्भाव प्रतिपादन करके 'प्राधान्य उसका ही है' यह दिखलाते हैं—

लोचनम्

एवमिति । स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञेयाविति त्यर्हार्थे कृत्यः, सर्वो हि तथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्वं प्रमाणमुक्तम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्तः । प्रत्यभिज्ञेयशब्देनेदमाह—

'काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः ।'

इस प्रकार— । अर्थात् स्वरूप-भेद और भिन्न सामग्री द्वारा ज्ञेय होने के कारण । 'प्रत्यभिज्ञेय' यहाँ अर्हार्थ में 'कृत्य' प्रत्यय हुआ है, सब लोग इस अंश में प्रयत्न करते हैं, 'सहृदयों द्वारा प्रत्यभिज्ञेय है' इतने से व्यङ्ग्य के प्राधान्य के सम्बन्ध में लोकसिद्धत्व को प्रमाण कहा है । नियोगार्थक 'कृत्य' प्रत्यय द्वारा शिक्षा का क्रम सूचित किया है ।[१] 'प्रत्यभिज्ञेय'[२] शब्द से यह कहते हैं—

'काव्य तो कदाचित् किसी प्रतिभावान् से उत्पन्न होता है ।'

---

१. 'उन अर्थ और शब्द महाकवि के प्रत्यभिज्ञेय हैं' आचार्य के इस कथन का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि सहृदय लोगों द्वारा महाकवि के शब्द-अर्थ प्रत्यभिज्ञेय या पहचानने योग्य हैं और दूसरा यह भी हो सकता है कि महाकवि को स्वयं उन्हीं शब्द-अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए । 'प्रत्यभिज्ञेय' 'अर्हार्थ' में 'कृत्य' प्रत्यय मानने पर प्रथम पक्ष के अनुकूल व्याख्यान होगा । इसलिए लोचनकार ने यहाँ यह अर्थ उद्भावित किया है कि व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य इसलिए है कि सभी लोग उस प्रकार के शब्द अर्थ के ज्ञान की इच्छा से प्रयत्न करते हैं । इस प्रकार तथाविध अर्थ और शब्द के प्राधान्य में लोकसिद्धत्व यह प्रमाण या हेतु कहा गया । किसी भी अप्रधान वस्तु के लिए लोकप्रवृत्ति नहीं होती । यहाँ 'लोक' शब्द से 'सहृदय' ही समझना चाहिए । दूसरे अभिप्राय के अनुसार यहाँ कृत्य-प्रत्यय नियोगार्थक है । अर्थात् आचार्य कवियों को यह शिक्षा देते हैं कि उन्हें पूर्वोक्त शब्द-अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए । क्योंकि जैसा वृत्तिग्रन्थ भी निर्देश करता है कि व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द का ही सुप्रयोग करके महाकवि महाकवि बनता है अतः उसके लिए उनका प्रत्यभिज्ञान अनिवार्य है ।

२. 'प्रत्यभिज्ञेय'—लोचनकार की दृष्टि में ग्रन्थकार का यह प्रयोग विशेष तात्पर्य रखता है । ग्रन्थकार का कहना है कि शब्द अर्थ जो सामान्य रूप से व्यवहार में विदित होते हैं उन्हें काव्य के क्षेत्र में उसी रूप में नहीं जानना चाहिए । यद्यपि 'प्रत्यभिज्ञान' ज्ञात वस्तु का ही पुनः ज्ञान होता है, तथापि यहाँ ज्ञान का विशेष रूप से अनुसन्धान को ही 'प्रत्यभिज्ञान' से समझना चाहिए । जब तक लोकव्यवहार की स्थिति है, शब्द-अर्थ अपने साधारण रूप से होते हैं किन्तु काव्य के क्षेत्र में उनकी सीमा का विस्तार हो जाता है और उनका स्वरूप भी बहुत कुछ निखर जाता है अतः केवल ज्ञात का पुनः ज्ञान न करके ज्ञात का पुनः पुनः अनुसन्धान रूप विशेष निरूपण या प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए । यह प्रतिभावान् महाकवि के लिए उतना ही अपेक्षित है जितना सहृदय के लिए । लोचनकार ने प्रस्तुत वक्तव्य को अपने रंग में ढालते हुए

ध्वन्यालोकः

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

'वह अर्थ है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखनेवाला कोई शब्द है। वे शब्द और अर्थ महाकवि के यत्नपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय हैं' ॥ ८ ॥

व्यंग्य अर्थ है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखनेवाला कोई शब्द है, न कि शब्दमात्र। वे ही शब्द-अर्थ महाकवि के प्रत्यभिज्ञान के योग्य हैं। क्योंकि, व्यंग्य और व्यंजक के ही सुन्दर ढङ्ग से प्रयोग करने पर महाकवियों को महाकवित्व का लाभ है, न कि वाच्य-वाचक-रचनामात्र से ॥ ८ ॥

लोचनम्

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्परिस्फुरति, तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखीभवति । यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥ इति ॥

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम् । *महाकवेरिति*। यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते।

इस न्याय से यद्यपि स्वयं उसे (कवि को) यह स्फुरित होता है, तथापि 'यह इत्थं है' इस प्रकार विशेष रूप से निरूपण करने पर हजारों शाखाओं का हो जाता है। जैसा कि हमारे परमगुरु श्रीमदुत्पलपाद ने कहा है—

'अपरिज्ञात एवं उन-उन प्रार्थनाओं द्वारा कृशाङ्गी के समीप में आया हुआ भी कान्त साधारण व्यक्ति के समान जिस प्रकार रमणकार्य नहीं कर पाता उस प्रकार जिसके गुण पहले नहीं देखे गए हैं ऐसा स्वात्मरूप भी विश्वेश्वर लोक के (समक्ष) अपना वैभव (विकास) नहीं कर पाता; इस कारण यह उसकी प्रत्यभिज्ञा बताई गई है।'

इस लिए ज्ञात का भी विशेष रूप से अनुसन्धानात्मक निरूपण यह 'प्रत्यभिज्ञान' पदार्थ है, न कि 'वही यह है' केवल इतना ही। महाकवि के—। जो आशा करता है

अपने गुरु श्रीमदुत्पलाचार्य का जो श्लोक उद्धृत किया है। कल्पना कीजिए कि कोई नायिका किसी व्यक्ति को बिना देखे ही उसके रूप का वर्णन सुन कर अपना 'प्रिय' मान लेती है और

ध्वन्यालोकः

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ ९ ॥

अब जो कि व्यंग्य और व्यंजक के प्राधान्य में भी कवि लोग पहले वाच्य और वाचक का ही उपपादन करते हैं वह भी ठीक ही है, यह कहते हैं—

जिस प्रकार आलोक चाहनेवाला व्यक्ति उसका उपाय होने के कारण दीपशिखा के लिए यत्न करता है, उसी प्रकार उस (व्यंग्य अर्थ) के प्रति आदरयुक्त जन वाच्य अर्थ के लिए यत्न करता है ॥ ९ ॥

लोचनम्

एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति, ध्वन्यते, ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्भावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्ये साध्ये हेतुरिति दर्शयति–*इदानीमित्यादिना* । आलोकनमालोकः; वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः । तत्र चोपायो दीपशिखा ॥ ९ ॥

कि मैं महाकवि होऊं। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द का प्राधान्य कहते हुए व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव (व्यञ्जना व्यापार) का भी प्राधान्य सूचित किया। इस तरह 'ध्वनन करता है', 'ध्वनित होता है' और 'ध्वनन' ये तीनों उपपन्न हो जाते हैं, यह कहा गया।

प्रथम उपादीयमान होने के कारण वाच्य, वाचक और उनके व्यापार (भाव) का ही प्राधान्य है, यह आशङ्का करके उपायों का ही पहले प्राधान्य होता है, इस अभिप्राय से प्राधान्य रूप साध्य में यह हेतु (प्रथमोपादीयमानत्व रूप)

पत्र-लेखनादि उपायों द्वारा उसे अपने पास बुलाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। अकस्मात् वह कान्त उसके समक्ष पहुँच आता है। ऐसी स्थिति में क्या सम्भव है कि नायिका उसके साथ रमण करे? नहीं। क्योंकि जब तक नायिका को यह विशेष रूप से ज्ञान नहीं हो जाता कि जिस व्यक्ति के मिलन के लिए वह बहुत दिनों से प्रयत्न कर रही है वही यह उपस्थित है तब तक वह व्यक्ति उसके लिए अन्य साधारण व्यक्ति के समान ही रहता है। यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है कि ईश्वर आत्मा से अभिन्न होकर भी अपना विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञान न किए जाने पर अपना वैभव नहीं प्रकट करता। यह यहाँ ज्ञातव्य है कि आचार्य अभिनवगुप्त 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के परममान्य आचार्य हैं अतः स्वाभाविक है कि उनके प्रायः प्रस्तुत साहित्यिक विवेचनों में उनके दार्शनिक सिद्धान्त का भी प्रभाव पड़ा है।

ध्वन्यालोकः

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। न हि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति। तद्वद्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥ ९ ॥

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ १० ॥

जैसे प्रकाश को चाहने वाला होता हुआ भी व्यक्ति दीपशिखा के लिए उस (आलोक) का उपाय होने के कारण यत्नवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा के विना आलोक सम्भव नहीं, उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ के प्रति आदरयुक्त जन वाच्य अर्थ में यत्नवान् होता है। इससे प्रतिपादक (वक्ता) कवि का व्यंग्य अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया ॥ ९ ॥

प्रतिपाद्य के भी उस (व्यापार) को दिखाने के लिए कहते हैं—

जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीत किया जाता है उसी प्रकार उस वस्तु की प्रतिपत् (प्रतीति) वाच्यार्थपूर्विका होती है ॥ १० ॥

लोचनम्

प्रतिपदिति भावे क्विप्। 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः। अनेन श्लोकेनात्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैष स्फुटसंवेद्य एव क्रमः।

विरूद्ध[1] है यह दिखाते हैं—अव इत्यादि द्वारा। आलोकन (देखना) आलोक है, अर्थात् वनिता के मुखारविन्द आदि का विलोकन। उसके लिए उपाय दीपशिखा है ॥९॥

'प्रतिपत्[2]' इसमें भाव में 'क्विप्' प्रत्यय है। 'उस वस्तु की' अर्थात् व्यङ्ग्य रूप

१. आशङ्का होती है कि जब वाच्य, वाचक और अभिधा व्यापार का पहले उपादान किया जाता है तब इसी कारण क्यों नहीं इन्हें ही प्रधान मानते हैं? व्यङ्ग्य के प्राधान्य का पक्ष इस प्रकार ठीक नहीं। इसके समाधान में यह कहना है कि जो आप प्रथम उपादान को प्राधान्य का हेतु मानते हैं वह विरुद्ध है, अर्थात् इस हेतु द्वारा अप्राधान्य भी सिद्ध हो जाता है। मतलब यह कि किसी वस्तु को प्रधान इस लिए माना नहीं जा सकता कि उसका उल्लेख पहले होता है। तब तो जो उपाय होता है वह उपेय से पहले उल्लिखित होता है, ऐसी स्थिति में आप उपाय को भी प्रधान कहेंगे! प्रस्तुत में वाच्य-वाचक-भाव भी प्रधानभूत व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव के उपाय हैं अतः उनका पहले उपादान होता है। इस प्रकार प्रथम उपादान मात्र से उन्हें प्रधान नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार आदमी जब किसी वस्तु को रात्रि में देखना चाहता है तब वह दीपशिखा के लिए यत्नवान् होता है। इस प्रकार दीपशिखा प्रथम उपादीयमान होने पर भी उपेयभूत वस्तु के दर्शन का उपाय होने के कारण अप्रधान है।

२. निर्णयसागरीय संस्करण में 'प्रतिपत्तव्यस्य' पाठ माना है, किन्तु 'लोचन' के प्रस्तुत

ध्वन्यालोकः

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ॥ १० ॥

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति—

जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का अवगम होता है उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ की प्रतिपत्ति वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका होती है ॥ १० ॥

अब, उस (व्यंग्य) की प्रतीति के वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वक होने पर भी, व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य जिस प्रकार व्यालुप्त नहीं होता, वह दिखाते हैं—

लोचनम्

यथात्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः। काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम् ॥ १० ॥

न व्यालुप्यत इति। प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वरिता मध्ये विश्रान्तिं न कुर्वत इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः। स्वसामर्थ्य-

सार पदार्थ की। इस श्लोक से यह दिखाया कि जो व्यक्ति अत्यन्त सहृदय नहीं है उसके लिए यह क्रम स्फुट संवेद्य है। जिस प्रकार जो व्यक्ति अत्यन्त शब्दवृत्तज्ञ (वाक्य को जानने वाला) नहीं है उसके लिए पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम है। और जो सहृदयता की काष्ठा (उत्कर्ष) तक पहुँचा है, उस वाक्यवृत्त-कुशल पुरुष की भाँति होता हुआ भी क्रम उस प्रकार असंवेद्य है जिस प्रकार अनुमान, व्याप्तिस्मृति आदि के अभ्यस्त व्यक्ति के लिए ॥ १० ॥

व्यालुप्त नहीं होता—। प्राधान्य के कारण ही उस (व्यङ्ग्य अर्थ) तक अनुसरण के रणरणक (औत्सुक्य) से त्वरित हुए (सहृदय लोग) बीच में विश्राम

निर्देश से वह प्रामादिक समझना चाहिए। दूसरे यदि निर्णयसागरीय पक्ष को ही मानते हैं तो मूल कारिका में 'वाच्यार्थपूर्विका' इस विशेषण के लिए 'प्रतिपत्तिः' इस विशेषण के आक्षेप का गौरव करना पड़ता है।

१. नियमतः पदार्थ के ज्ञान के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है अर्थात् पहले पदार्थ का ज्ञान होता है तब वाक्यार्थ का यह क्रम है। किन्तु जो व्यक्ति वाक्यवृत्तकुशल हैं उसे यह क्रम स्पष्ट रूप से संवेद्य नहीं होता है। उसी प्रकार पहले वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है और तब व्यङ्ग्य अर्थ की, यह क्रम है। किन्तु जो अत्यन्त सहृदय व्यक्ति है उसे यह क्रम नहीं प्रतीत होता है। इस लिए आगे ध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रम' भी कहा गया है। अनुमान आदि में भी जिसे विषय का अभ्यास होता है उसे व्याप्तिस्मृति और अनुमिति का क्रम स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। 'संकेत'-ज्ञान और 'अर्थ' ज्ञान के क्रम के सम्बन्ध में भी यही बात है।

ध्वन्यालोकः

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥ ११ ॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापार-निष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया ॥ ११ ॥

अपनी सामर्थ्य के वश ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ पदार्थ जिस प्रकार व्यापार के निष्पन्न (पूर्ण) हो जाने पर विभावित नहीं होता (अलग प्रतीत नहीं होता) ॥ ११ ॥

जिस प्रकार अपनी सामर्थ्य के वश ही वाच्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति में विभक्तरूप से भावित (प्रतीत) नहीं होता।

लोचनम्

माकाङ्क्षायोग्यतासन्निधयः। *विभाव्यत* इति। विशब्देन विभक्ततोक्ता; विभक्ततया न भाव्यत इत्यर्थः। अनेन विद्यमान एव क्रमो न संवेद्यत इत्युक्तम्। तेन यत्स्फोटाभिप्रायेणासन्नेव क्रम इति व्याचक्षते तत्प्रत्युत विरुद्धमेव। वाच्येऽर्थे विमुखो विश्रान्तिनिबन्धनं परितोषमलभमान आत्मा हृदयं येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिव्यक्तः। सहृदयानामेव तर्ह्ययं महिमास्तु,

नहीं करते हैं, इस प्रकार होते हुए भी क्रम का लक्षित नहीं होना (व्यङ्ग्य अर्थ के) प्राधान्य में हेतु है। अपनी सामर्थ्य[1] अर्थात् आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि। विभावित होता है—। 'वि' शब्द से 'विभक्तता' कही गई; अर्थात् विभक्त रूप में नहीं भावित (प्रतीत) होता है। इससे जो 'स्फोट के अभिप्राय से नहीं रहता हुआ भी क्रम' ऐसा व्याख्यान करते हैं, वह (व्याख्यान) प्रत्युत विरुद्ध ही है। वाच्य अर्थ में विमुख अर्थात् विश्रान्तिमूलक परितोष को न पाये आत्मा (हृदय) है जिनका, इससे 'सहृदयों का' इतने का ही अर्थ अभिव्यक्त है। तब तो यह सहृदयों की ही महिमा

१. पदार्थों में जब तक योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि ये तीनों विद्यमान नहीं रहते तब तक वाक्य स्वरूप-लाभ नहीं करता। 'योग्यता' पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव है। पदसमूह में इस 'योग्यता' के अभाव में किसी प्रकार वह वाक्य नहीं कहा जा सकता, जैसे 'वह्निना सिञ्चति'। यह पदसमूह योग्यतारहित है, क्योंकि सेचन कार्य की योग्यता अग्नि में नहीं है, इसलिए यह वाक्य नहीं है। पदसमूह को वाक्य बनने में 'आकांक्षा' भी होनी चाहिए, अर्थात् एक पद से दूसरे पद के अन्वय का अनुभावन होना चाहिए, आकांक्षारहित पदसमूह, जैसे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मणः' इत्यादि। यहाँ एक पद से दूसरे का अन्वय प्रतीत नहीं होता। 'सन्निधि' या 'आसत्ति' बुद्धि का अविच्छेद हैं, अर्थात् एक पद का दूसरे से सामयिक व्यवधान नहीं होना चाहिए। जैसे कोई पदसमूह अंशतः घण्टे-घण्टे के व्यवधान से कहा जाय तब उसमें सन्निधि का अभाव होता है अतः वह वाक्य नहीं कहला सकता। जैसे 'घटम्' कहने के एक घण्टे बाद यदि 'आनय' कहा तो यह पदसमूह वाक्य नहीं हो सकता। इस प्रकार ये तीनों ही पदसमूह के वे धर्म हैं जिनसे वाक्य स्वरूपलाभ करता है। यद्यपि 'आकांक्षा' श्रोता की

ध्वन्यालोकः

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ १२ ॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥

उसी प्रकार वह अर्थ वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले सहृदयजनों की तत्त्वार्थ-दर्शिनी बुद्धि में झट से ही अवभासित हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यंग्यार्थ के सन्द्राव का प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं—

जहाँ अर्थ अपने-आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त (अभिव्यक्त) करते हैं वह 'काव्यविशेष' विद्वान् लोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है ॥ १३ ॥

लोचनम्

न तु काव्यस्यासौ कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह—*अवभासत* इति। तेनात्र विभक्ततया न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः। अत एव तृतीयोद्द्योते घटप्रदीपदृष्टान्तबलाद्व्यङ्ग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः ॥ ११–१२ ॥

सद्भावमिति। सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थः। द्वयं हि प्रतिपिपादयि-

है, न कि यह, कोई काव्य का अपना अतिशय है, यह आशङ्का करके कहते हैं— अवभासित होता है—। इस लिए यहाँ विभक्त रूप से भासित नहीं होता, न कि वाच्य का सर्वथा ही अनवभास होता है। अत एव तृतीय 'उद्योत' में घट और प्रदीप के दृष्टान्त[1] के बल से जो यह कहेंगे कि व्यङ्ग्य की प्रतीति के काल में भी वाच्यप्रतीति नहीं विघटित होती है उसके साथ इस ग्रन्थ का विरोध नहीं है॥११–१२॥

सद्भाव[2]—। सत्ता अर्थात् साधुभाव और प्राधान्य। क्योंकि दोनों ही प्रतिपादन की

जिज्ञासा रूप हैं तथापि परम्परा-सम्बन्ध द्वारा पदार्थ का भी धर्म है। अपनी इस 'सामर्थ्य' के द्वारा ही पदार्थ वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

१. वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का द्योतन होता है। इसका मतलब है कि जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से घट को प्रकाशित करता हुआ अपने को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार वाच्यार्थ भी व्यङ्ग्य अर्थ को प्रतीत कराता हुआ स्वयं भी प्रतीत होता है। वाच्यार्थ से विमुख सहृदय लोग झटिति उस व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान करते हैं। इससे क्रम रहता हुआ भी उन्हें क्रम अभिलक्षित नहीं होता है। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि सहृदयों की विशेषता है जो इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान करते हैं, बल्कि व्यङ्ग्यार्थ उन्हें इस प्रकार अवभासित होता है।

२. 'सद्भाव' शब्द सत्ता या अस्तित्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है, साथ ही उस वस्तु की

लोचनम्

पितम्। *प्रकृत* इति लक्षणे। *उपयोजयन्* उपयोगं गमयन्। तमर्थमिति चायमुपयोगः। स्वशब्द आत्मवाची। स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ; तौ गुणीकृतौ याभ्याम्, यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिधेयः। *तमर्थमिति*। 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इति यदुक्तम्। *व्यङ्क्तः* द्योतयतः। व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः। तेन यद्भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव। अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण। काव्यं च तद्विशेषश्चासौ काव्यस्य वा विशेषः। काव्यग्रहणाद् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनि-

इच्छा के विषय हैं। प्रकृत में—। अर्थात् लक्षण में। उपयोग बताते हुए—। 'उस प्रतीयमान अर्थ का' यह उपयोग है। स्व और अर्थ दोनों स्वार्थ हुए, वे स्वार्थ जिनके द्वारा गुणीभूत हुए। उस क्रम से अर्थ अपने आपको गुणीभूत करता है और शब्द अभिधेय (वाच्य) का गुणीभूत करता है। उस अर्थ को—। जिसे 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' कहा है। 'व्यक्त करते हैं' अर्थात् द्योतन करते हैं। 'व्यङ्क्तः' (व्यक्त करते हैं) इस द्विवचन से यह कहते हैं—यद्यपि 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि में शब्द ही व्यञ्जक है, तथापि अर्थ की भी सहकारिता नहीं टूटती है, अन्यथा जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं है वह भी उसका व्यञ्जक हो जाता। और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि में शब्द भी सहकारी होता ही है, क्योंकि विशिष्ट शब्द द्वारा अभिधान नहीं किया जायगा तो ऐसी स्थिति में वह शब्द उस अर्थ का व्यञ्जक नहीं हो सकता। इस प्रकार सर्वत्र 'ध्वनन' शब्द और अर्थ दोनों का ही व्यापार है। इस लिए जो कि भट्टनायक ने 'द्विवचन' में दोष बताया था वह तो गजनिमीलिका के कारण ही। 'अर्थ अथवा शब्द' इस प्रकार जो विकल्प कहा है वह प्राधान्य[1] के अभिप्राय से।

अच्छाई और श्रेष्ठता भी इस शब्द से अभिहित होती है—सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रस्तुत में बड़े विस्तार से आचार्य ने ध्वनि के सद्भाव का जो प्रतिपादन किया है उससे केवल ध्वनि का अस्तित्व या मवजूदगी ही सिद्ध नहीं की है बल्कि उसे साधु और प्रधान भी सिद्ध किया है।

१. 'अर्थ अथवा शब्द' यह विकल्प प्राधान्य के अभिप्राय से कहा है। अर्थात् जैसा कि यह ऊपर की पंक्तियों में कह चुके हैं कि केवल शब्द या केवल अर्थ व्यञ्जक नहीं होते, बल्कि एक दूसरे की सहायता से व्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार जब अर्थ प्रधान रूप से व्यङ्ग्य की व्यञ्जना करता है तब शब्द उसका सहकारी होता है और जब शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक होता है तब अर्थ उसका सहकारी होता है। इसी प्राधान्य के अभिप्राय से आचार्य ने 'विकल्प' का प्रयोग किया है और शब्द-अर्थ की इसी सम्मिलित व्यञ्जकता के कारण 'व्यङ्क्तः' इस द्विवचन के प्रयोग की भी सार्थकता है। भट्टनायक द्वारा 'द्विवचन' का दूषण उनका अज्ञान प्रकट करता है।

ध्वन्यालोकः

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

जहाँ अर्थ याने वाच्यविशेष अथवा वाचकविशेष शब्द उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं वह काव्यविशेष 'ध्वनि' (कहलाता) है।

लोचनम्

लक्षण 'आत्मे'त्युक्तम्। तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति। यच्चोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तदङ्गीकुर्म एव। नाम्नि खल्वयं विवाद इति। यच्चोक्तम्—'चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति। तत्र शब्दार्थमयकाव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। स इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्ये-

'काव्य और उसका विशेष' इस प्रकार (कर्मधारय समास) है, या 'काव्य का विशेष' इस प्रकार (षष्ठी तत्पुरुष समास) है। 'काव्य' के ग्रहण से यह कहा कि जो ध्वनि रूप आत्मा है वह गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का पृष्ठपाती है। इस लिए इस बात का कोई अवकाश नहीं कि (स्थूलकाय देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' इस) [1]'श्रुतार्थापत्ति' में भी 'काव्य' का व्यवहार होने लगेगा। और जो कि कहा है—'तब तो चारुत्व की प्रतीति काव्य का आत्मा होगा' यह हम स्वीकार करते ही हैं। यह विवाद तो नाम में है ! और जो कि कहा है—'चारु की प्रतीति यदि काव्य का आत्मा है तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से भी चारु की होतीं हुई प्रतीति उस प्रकार (काव्य का आत्मा) होगी।' वहाँ जब कि शब्दार्थरूप काव्यात्मा के कथन का प्रसङ्ग है, फिर यह कौन प्रसङ्ग है ? अतः यह कुछ भी नहीं। (कारिका में प्रयुक्त) वह—। अर्थ अथवा शब्द, अथवा व्यापार। 'ध्वनति' या ध्वनन करता है, (इस व्युत्पत्ति के अनुसार) वाच्य अर्थ 'ध्वनि' है, इस प्रकार शब्द भी। 'ध्वन्यते'

१. आचार्य का यह निर्देश पहले भी हो चुका है कि 'ध्वनि' काव्य का आत्मा अवश्य है किन्तु केवल ध्वनि से काव्य का व्यवहार नहीं होता। बल्कि 'ध्वनि' के साथ शब्द-अर्थ का गुण और अलङ्कार से उपस्कृत भी होना आवश्यक है। इस प्रकार प्रकृत 'कारिका' में 'काव्य' यह साभिप्राय है। यदि केवल ध्वनि के अस्तित्व मात्र से 'काव्य' मान लेने की छूट दे दी जाय तो मीमांसकों के यहाँ प्रसिद्ध 'श्रुतार्थापत्ति' का स्थल भी 'काव्य' के रूप में व्यवहृत होगा। जैसे 'यह मोटा ताजा देवदत्त दिन में नहीं खाता है' (पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते) इस श्रुत वाक्य से जो दिन में भोजन के अभाव में पीनत्व रूप अर्थ ज्ञान होता है उसकी अन्यथानुपपत्ति को लेकर 'रात्रि में भोजन करता है' (रात्रौ भुङ्क्ते) इस रात्रिभोजन रूप अर्थ के प्रतिपादक अन्य वाक्य की कल्पना करते हैं। परन्तु यहाँ 'ध्वनि' होते हुए भी गुण-अलङ्कार से उपस्कृत शब्द-अर्थ का अभाव है अतः यहाँ काव्य-व्यवहार नहीं हो सकता। इसका निर्देश 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' (१.५) कारिका की वृत्ति में 'विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य' में किया है। इस स्थल के लोचन में इसका स्पष्टीकरण दर्शनीय है।

ध्वन्यालोकः

अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्। यदप्युक्तम्—'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यहानेर्ध्वनिर्नास्ति' इति, तदप्ययुक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।

इससे वाच्य और वाचक की चारुता के हेतु उपमा आदि और अनुप्रास आदि से ध्वनि का विषय विभक्त ही है, यह दिखाया। जो कि कहा है—'प्रसिद्ध प्रस्थानों को अतिक्रमण करनेवाला मार्ग काव्यत्व से रहित होता है, अतः ध्वनि नहीं है।' वह भी ठीक नहीं; क्योंकि लक्षणकारों के लिए ही वह केवल प्रसिद्ध नहीं है, लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदयजनों के हृदय को आह्लादित करनेवाला काव्यतत्त्व है। उससे दूसरा ही 'चित्र' है, यह आगे चलकर दिखायेंगे।

लोचनम्

त्वम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्। *विभक्त इति*। गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात्। अस्य च तदन्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसारत्वान्नास्य तेष्वन्तर्भाव इति। अनन्यत्र भावो विषयशब्दार्थः। एवं तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति निराकृतम्। *लक्षणकृतामेवेति*। लक्षण-

(इस व्युत्पत्ति के अनुसार) व्यंग्य 'ध्वनि' है, और शब्द और अर्थ का व्यापार 'ध्वननम्' (इस व्युत्पत्ति के अनुसार) 'ध्वनि' है। कारिका द्वारा तो प्रधानतया समुदाय[1] ही काव्यरूप मुख्यरूप से 'ध्वनि' है, ऐसा प्रतिपादन किया है। विभक्त—। क्योंकि गुण और अलङ्कार का प्राणभूत तत्त्व वाच्यवाचकभाव है, और इस ध्वनि का सार उसके अतिरिक्त व्यंग्यव्यञ्जकभाव है, इसलिए इसका उनमें अन्तर्भाव नहीं है। 'विषय'[2] शब्द का अर्थ है अन्यत्र सद्भाव का अभाव। इस प्रकार उन (गुण और अलङ्कार) से व्यतिरिक्त यह 'ध्वनि' क्या है, इसका निराकरण किया। लक्षणकारों के लिए ही—।

---

१. मूल कारिकाग्रन्थ में जिस काव्य विशेष को 'ध्वनि' कहा गया है वह मुख्य रूप से रूढि द्वारा समुदाय रूप ध्वनि है। 'ध्वनति', 'ध्वन्यते' और 'ध्वननम्' शब्द, वाच्य, व्यङ्ग्य और व्यञ्जन इनका समुदाय यहाँ 'ध्वनि' है। पहले भी 'लोचन' में ध्वनि की व्युत्पत्तियों का निर्देश हो चुका है।

२. व्युत्पत्ति के अनुसार 'विषय' शब्द का यह अर्थ है कि जो अपने सम्बन्ध के पदार्थ को बांध देता है, सीमित कर देता है (विशेषण सिनोति बध्नातीति विषयः)। प्रस्तुत में ध्वनि का भी अपनी सीमा से बाहर सद्भाव नहीं है, अर्थात् वह सीमा में बँधा हुआ है। अतः ध्वनि को उपमा आदि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है। उपमा आदि वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु हैं किन्तु ध्वनि का प्राण व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है और यहाँ स्वयं यह चारुत्व की प्रतीति है।

लोचनम्

कारप्रसिद्धता विरुद्धो हेतुः, तत एव हि यत्नेन लक्षणीयता। लक्ष्ये त्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतुः। यच्च नृत्तगीतादिकल्पं, तत्काव्यस्य न किञ्चित्। *चित्रमिति।* विस्मयकृद्वृत्त्यादिवशात्, न तु सहृदयाभिलषणीयचमत्कारसाररसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः। काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कलामात्रत्वाद्वा। अग्र इति।

लक्षणकारों में अप्रसिद्धतारूप विरुद्ध[1] हेतु है; इसी कारण यत्नपूर्वक (आचार्य ने ध्वनि को) लक्षणीय किया है! लक्ष्य में 'अप्रसिद्धत्व' रूप हेतु असिद्ध है। और जो कि नृत्त, गीत आदि[2] के समान है, वह काव्य का (ध्वनि के रूप में लक्षित काव्य का) कुछ नहीं है। चित्र—। अर्थात् नृत्त[3] आदि के कारण विस्मय उत्पन्न करने वाला, न कि सहृदयजनों द्वारा अभिलषणीय चमत्कारसार रसका निष्यन्दमय। काव्य का अनुकरण करनेवाला होने के कारण 'चित्र' है, अथवा आलेखमात्र अथवा कलामात्र होने के कारण! आगे—।

१, पहले ध्वनि के निराकरण के प्रसङ्ग में यह कह चुके हैं कि प्रसिद्ध प्रस्थान (अर्थात् वह मार्ग जो परम्परा से व्यवहार में आता है, जैसे प्रस्तुत में शब्द-अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार आदि) में 'ध्वनि' का निर्देश न होने के कारण उसे काव्य नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह कि ध्वनि इस कारण नहीं है कि वह प्रसिद्ध प्रस्थानों में नहीं आता उन्हें अतिक्रमण करने वाला है, इस प्रकार ध्वनि का विरोध किया गया है। इसी को 'न्याय' की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—ध्वनिर्नाम काव्यप्रकारो नास्ति, प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रामित्वात्। इस 'हेतु' के तात्पर्य के रूप में दो बातें प्रतीत होती हैं, एक यह कि प्राचीन अलङ्कार-शास्त्र के लक्षणकारों में यह 'ध्वनि' तत्त्व प्रसिद्ध नहीं था और दूसरी यह कि यह कोई अप्रसिद्ध लक्ष्य था। इन दोनों का निराकरण करते हुये मूल-वृत्ति ग्रन्थ में जैसा कहा है कि लक्षणकारों के लिये ही वह केवल प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदयों को आह्लादित करने वाला काव्य तत्त्व है। इस प्रकार 'लक्षणकाराप्रसिद्धता' रूप हेतु विरुद्ध है और 'लक्ष्याप्रसिद्धता' रूप हेतु असिद्ध है। ध्वनि लक्षणकारों के लिये अप्रसिद्ध है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह नहीं है, बल्कि इससे तो यह समझना चाहिये कि वह यत्नपूर्वक लक्षणीय है, क्योंकि वह सिर्फ 'काव्य' नहीं बल्कि 'काव्यविशेष' है। अतः यह हेतु विरुद्ध है। दूसरे यह कहना कि वह लक्ष्य में प्रसिद्ध नहीं, बिलकुल ठीक नहीं, क्योंकि परीक्षा करके लक्ष्य में देखने पर वही सहृदयहृदयाह्लादकारी तत्त्व दिखाई देता है। अतः यह हेतु असिद्ध है।

२. जैसे नाटक आदि में शोभा के लिये नृत्त, गीत आदि का आयोजन करते हैं उसी प्रकार यह ध्वनि भी कोई शोभाकारी तत्त्व हो सकता है। जिस प्रकार नृत्त-गीत कवनीय न होने के कारण काव्य नहीं हैं उसी प्रकार ध्वनि भी काव्य नहीं है यह पहले ध्वनि के काव्य के रूप में लक्षित करने के प्रसङ्ग में कह चुके हैं। प्रस्तुत में 'ध्वनि' को 'काव्यविशेष' रूप में सिद्ध करके यह निर्णय कर दिया कि वह एक कवनीय तत्त्व है अतः वह 'काव्य' है। ऐसी स्थिति में उसे नृत्त-गीतादि की समानता की कोटि में नहीं ला सकते हैं, क्योंकि नृत्त-गीत आदि काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, वे सर्वथा कवनीय नहीं हैं और ध्वनि कवनीय है, कवि के व्यापार का विषय है।

३. लोचन में 'वृत्तादि' छपा है, 'बालप्रिया' में 'वृत्त' शब्द से यमक-उपमा आदि का परिग्रह किया है। क्योंकि यमक-उपमा आदि अलङ्कारों के कारण 'विस्मय' होता है। परन्तु 'दिव्याञ्जना'

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तम्—'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादि-प्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम्; वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

जो कि कहा है—'कमनीयता का अतिक्रमण न करने के कारण (विशेष कमनीय न होने के कारण) उस ध्वनि का उक्त अलङ्कार आदि प्रकारों में अन्तर्भाव है।' वह भी समीचीन नहीं। (क्योंकि अलङ्कार आदि) प्रस्थान जब कि एकमात्र वाच्यवाचकभाव पर आश्रित हैं तो उनका ध्वनि, जो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का आश्रयण करके व्यवस्थित है, में कैसे अन्तर्भाव होगा? क्योंकि यह प्रतिपादन करेंगे कि वाच्य और वाचक के चारुत्वहेतु (अलङ्कार आदि) उस (ध्वनि) के अङ्गभूत हैं, और वह (ध्वनि) तो अङ्गी रूप ही है।

लोचनम्

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थितम्।
द्विधा काव्यं ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥

इति तृतीयोद्द्योते वक्ष्यति। परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः

'इस प्रकार व्यंग्य का प्रधानभाव और गुणभाव के कारण' काव्य दो प्रकार से व्यवस्थित है, उससे जो अतिरिक्त है वह 'चित्र' कहलाता है।

यह 'तृतीयोद्योत' में कहेंगे। परिकर के लिए अर्थात् कारिका के अर्थ का अधिक आवाप (अर्थात् कारिका में नहीं कहे गए अधिक अर्थ का प्रक्षेप) करने के लिए जो

टिप्पणी में 'वृत्त्यादि' पाठ माना है और 'वृत्ति' शब्द से उपनागरिका आदि का ग्रहण किया है। इस पाठपरिवर्तन का अभिप्राय मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। 'वृत्त' के द्वारा अलङ्कारों का ग्रहण करना मुझे ठीक लगता है। क्योंकि चमत्कार या तो रस से होता है या अलङ्कार से। 'चमत्कार विस्मय की ही उत्कृष्ट भूमि है।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों में चमत्कार 'रस' के कारण अनुभव में आता है किन्तु जहाँ केवल अलङ्कारों के कारण चमत्कार होता है वह 'विस्मय' का ही एक रूप है अतः विस्मयकारी होने के कारण अलङ्कार-प्रधान काव्य को 'चित्रकाव्य' कहने की परम्परा है।

अलङ्कार-प्रधान काव्य को 'चित्र' कहने के और भी कारण हो सकते हैं जैसे वह वस्तुतः काव्य नहीं बल्कि काव्य का अनुकरण करता है। जैसे घोड़े के चित्र वस्तुतः घोड़ा नहीं, किन्तु घोड़े का अनुकरण करता है। इसी प्रकार आलेखमात्र अथवा कलामात्र होने के कारण यह 'चित्र' कहा गया है।

ध्वन्यालोकः

परिकरश्लोकश्चात्र—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा—समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति।

अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति ।

और यहाँ एक परिकर श्लोक है—

'ध्वनि के मूल में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के सम्बन्ध के होने के कारण वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतुओं में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?'

जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती है वह ध्वनि का विषय मत हो, किन्तु जहाँ प्रतीति है, जैसे—समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि में, वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव होगा, इत्यादि (शङ्का) के निवारण के लिए अभिहित किया है—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।'

अर्थात् अर्थ अपने आपको (आत्मा को) गुणीभूत करके, जहाँ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वह 'ध्वनि' है। उनमें उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि होता है। और यह समासोक्ति आदि में नहीं है।

लोचनम्

परिकरश्लोकः। *यत्रेत्यलङ्कारे*। *वैशद्येनेति*। चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः। *अभिहितमिति*। भूतप्रयोग आदौ व्यङ्क्त इत्यस्य व्याख्यातत्वात्। *गुणीकृतात्मेति*। आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः। *न चैतदिति*। व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम्। प्राधान्यं च यद्यपि ज्ञप्तौ न चकास्ति; 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्'

श्लोक होता है वह परिकर श्लोक है। जहाँ—। अलङ्कार में। विशदतापूर्वक—। अर्थात् चारुतापूर्वक और स्फुटतापूर्वक। 'अभिहित' यह 'भूत' प्रयोग है, क्योंकि पहले 'व्यङ्क्तः' ('व्यञ्जित करते हैं') इसका व्याख्यान किया गया है। गुणीकृतात्मा—। 'आत्मा' द्वारा 'स्व' शब्द का अर्थ व्याख्यान किया है। यह······नहीं है—। व्यंग्य का प्राधान्य (नहीं है)। यद्यपि व्यंग्य का प्राधान्य ज्ञप्ति (ज्ञान) में नहीं भासित होता है, क्योंकि

ध्वन्यालोकः

समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥

समासोक्ति में—प्रवृद्धराग शशी ने निशा के मुख को इस प्रकार ग्रहण किया कि उस (निशा) ने राग के कारण (सामने = पूर्व दिशा में) ढले हुए पूरे अन्धकार के अंशुक को नहीं लक्षित किया ।

लोचनम्

इति नयेनाखण्डचर्वणाविश्रान्तेः, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालङ्कारता । ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति । यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येण, अपि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता । *समासोक्ताविति* ।

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ॥

इत्यत्र समासोक्तेर्लक्षणस्वरूपं हेतुर्नाम तन्निर्वचनमिति पादचतुष्टयेन क्रमादुक्तम् । *उपोढो रागः* सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च येन । *विलोलास्तारका* ज्योतींषि नेत्रत्रिभागाश्च यत्र । *तथेति* । झटित्येव प्रेमरभसेन च । *गृहीतमाभासितं* परिचुम्बितुमाक्रान्तं च । *निशाया मुखं* प्रारम्भो वदनकोकनदं चेति । *यथेति* । झटिति ग्रहणेन प्रेमरभसेन च । *तिमिरं चांशुकाश्च* सूक्ष्मांशवस्तिमि-

'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्' इस न्याय के अनुसार अखण्ड चर्वणा में विश्रान्ति होती है, तथापि विवेचक लोगों द्वारा जीवित (आत्मा) के अन्वेषण किए जाने पर जब व्यंग्य अर्थ फिर भी वाच्य ही को अनुप्राणन करता है तब उस (वाच्य) का उपकरण होने के कारण उसका अलङ्कारत्व माना जाता है। ऐसी स्थिति में, उस व्यंग्य के द्वारा उपस्कृत उस वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। यद्यपि पर्यवसान में रसध्वनि है, तथापि बीच वाली कक्षा में पड़ा व्यंग्य अर्थ रस की ओर उन्मुख नहीं होता, बल्कि स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्य अर्थ को ही संस्कृत करने के लिए दौड़ लगाता है, इसलिए (उसका) गुणीभूतव्यंग्यत्व कहा है । समासोक्ति में—।

जिस उक्ति में अन्य अर्थ (प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ) समान विशेषणों से प्रतीत होता है उसे विद्वान् लोग संक्षिप्तार्थ होने से समास कहते हैं ।

यहाँ श्लोक के चार चरणों द्वारा क्रम से समासोक्ति का लक्षण-स्वरूप, हेतु, नाम और उसका निर्वचन (व्युत्पत्ति) बताया गया है । प्रवृद्ध है राग अर्थात् सन्ध्याकाल की लाली और प्रेम जिससे । विलोल (चंचल) तारक अर्थात् तारे और नेत्रत्रिभाग हैं जहाँ । तथा—। झट ही और प्रेम के वेग से । गृहीत (ग्रहण किया) अर्थात् आभासित और

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

इत्यादि (उदाहरण) में व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य ही प्राधान्यतः प्रतीत होता है, क्योंकि जिस पर नायिका और नायक के व्यवहारों का आरोप किया गया है ऐसे निशा और शशी ही वाक्यार्थ हैं ।

लोचनम्

रांशुकं रश्मिशबलीकृतं तमःपटलं, तिमिरांशुकं नीलजालिका नवोढाप्रौढवधूचिता । रागाद्रक्तत्वात् सन्ध्याकृतादनन्तरं प्रेमरूपाच्च हेतोः । *पुरोऽपि* पूर्वस्यां दिशि अग्रे च । *गलितं* प्रशान्तं पतितं च । रात्र्या करणभूतया समस्तं मिश्रितम्; उपलक्षणत्वेन वा । *न लक्षितं* रात्रिप्रारम्भोऽसाविति न ज्ञातं, तिमिरसंवलितांशुदर्शने हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते न तु स्फुट आलोके । नायिकापक्षे तु तयेति कर्तृपदम् । रात्रिपक्षे तु अपिशब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तरः । अत्र च नायकेन पश्चाद्गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलनं पतनम् । यदि वा 'पुरोऽग्रे नायकेन तथा गृहीतं मुखमि'ति सम्बन्धः । तेनात्र व्यङ्ग्ये प्रतीतेऽपि न प्राधान्यम् । तथाहि नायकव्यवहारो निशाशशिनावेव

परिचुम्बन के लिए आक्रान्त । निशा का मुख अर्थात् प्रारम्भ और मुख-कमल । यथा—। झट पकड़ लेने से और प्रेम के वेग से । तिमिर और अंशुक (चन्द्र की सूक्ष्म किरणें) । तिमिरांशुक अर्थात् रश्मि से मिला-जुला अन्धकार-पटल, तिमिरांशुक अर्थात् नवोढा प्रौढवधू द्वारा पहनी हुई नीली साड़ी । राग अर्थात् सन्ध्या की लाली के कारण और प्रेमरूप राग के कारण । 'पुरोऽपि'—पूर्व दिशा में, और सामने । गलित अर्थात् प्रशान्त और पतित (ढला हुआ) । रात्रि करणभूत रात्रि द्वारा समस्त अर्थात् मिश्रित, अथवा उपलक्षण के रूप में रात्रि से । नहीं लक्षित किया—। यह रात्रि का प्रारम्भ है यह नहीं जाना, क्योंकि अन्धकार से मिश्रित किरणों को देखने पर ही 'रात्रिमुख' को लोग लक्षित करते हैं—समझते हैं, न कि स्फुट आलोक में । नायिका-पक्ष में 'तया' (उसने) यह कर्तृपद है । रात्रिपक्ष में 'अपि' (भी) शब्द 'लक्षितम्' के बाद है । यहाँ पीछे की ओर से पहुँचे हुए नायक के द्वारा चुम्बन का उपक्रम किए जाने पर सामने नीलांशुक का गलन या पतन है । यदि वा, 'आगे नायक ने उस प्रकार मुख को पकड़ा' यह सम्बन्ध करते हैं, ऐसी स्थिति में यहाँ व्यंग्य के प्रतीत होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं बनेगा । क्योंकि नायक का व्यवहार शृंगार के विभावरूप निशा और शशी को ही उपस्कृत करता हुआ अलङ्कारभाव को प्राप्त कर रहा है, तब तो विभावीभूत वाच्य से रसनिष्यन्द होगा । जिसने व्याख्यान किया है—'तया निशया' यह कर्तृपद है, निशा के अचेतन होने के कारण उसका कर्तृत्व बन नहीं सकता, इस प्रकार यहाँ शब्द ही के द्वारा नायक का व्यवहार उन्नीत होने से अभिधेय ही है न कि व्यंग्य,

ध्वन्यालोकः

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि—तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन्मुख्यं काव्यशरीरम्।

'आक्षेप' अलङ्कार में भी व्यङ्ग्यविशेष का आक्षेप करने वाले वाच्य अर्थ की ही चारुता है, प्राधान्यतः वाक्यार्थ आक्षेपोक्ति की सामर्थ्य से ही जाना जाता है। जैसा कि—'विशेष बात कहने की इच्छा से शब्द द्वारा वाच्य जो प्रतिषेध रूप आक्षेप है वही व्यङ्ग्य विशेष को व्यञ्जित करता हुआ मुख्य काव्यशरीर है।

लोचनम्

शृङ्गारविभावरूपौ संस्कुर्वाणोऽलङ्कारतां भजते, ततस्तु वाच्याद्विभावीभूताद्रसनिःष्यन्दः। यस्तु व्याचष्टे—'तया निशयेति कर्तृपदं, न चाचेतनायाः कर्तृत्वमुपपन्नमिति शब्देनैवात्र नायकव्यवहार उन्नीतोऽभिधेय एव, न व्यङ्ग्य इत्यत एव समासोक्तिः' इति। स प्रकृतमेव ग्रन्थार्थमत्यजद्व्यङ्ग्येनानुगतमिति। एकदेशविवर्ति चेत्थं रूपकं स्यात्, 'राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः' इतिवत्, न तु समासोक्तिः; तुल्यविशेषणाभावात्। गम्यत इति चानेनाभिधाव्यापारनिरासादित्यलमवान्तरेण बहुना। नायिकाया नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः; नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः। *आक्षेप* इति।

अतएव समासोक्ति है।' उस (व्याख्याता) ने 'व्यंग्येनानुगतम्' यह प्रस्तुत अर्थ छोड़ दिया है। इस प्रकार 'एकदेशविवर्ति' रूपक होगा, जैसा कि—'सरोवररूपी राजे राजहंसरूपी शरत्काल द्वारा हवा दिए गए।' समासोक्ति नहीं है, क्योंकि समान विशेषण नहीं है। समासोक्ति में 'गम्यते' (प्रतीत होता है') इस पद का प्रयोग करके अभिधा व्यापार का निराकरण किया है। यह बहुत अवान्तर चर्चा व्यर्थ है! नायिका का नायक में जो व्यवहार है उसका निशा में समारोप किया है और जो व्यवहार नायिका में नायक का है उसका शशी में समारोप किया है, इस प्रकार व्याख्यान करने पर एकशेष[1] का प्रसंग नहीं उपस्थित होगा। आक्षेप—।

---

१. स्वयं लोचनकार ने प्रस्तुत 'समासोक्ति' के उदाहरण 'उपोढरागेण' का विशद व्याख्यान प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ वृत्तिग्रन्थ में 'नायिका और नायक' जो कहा गया है वहाँ पाणिनि के 'पुमान् स्त्रिया' इस नियम के अनुसार एकशेष होना चाहिए यह शङ्का उपस्थित होती है मतलब यह कि 'नायक' कह देने मात्र से स्वतः नायिका का भी ग्रहण हो सकता था। इस शङ्का के समाधान में आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार व्याख्यान किया है दोनों के उल्लेख की आवश्यकता हो जाती है। उनका कहना है कि कवि ने नायिका के नायक में नीलांशुक के गलन को लक्षित न करने आदि व्यवहार (व्यापार) को निशा में आरोपित किया है और नायिका में नायक के

लोचनम्

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

तत्राद्यो यथा—

अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते॥

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधात्माक्षेपः। तत्रेयदस्त्वित्येतदेवात्र म्रिये इत्याक्षिपत्सच्चारुत्वनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलङ्कृतं सत्प्रधानम्। उक्तविषयस्तु यथा ममैव—

भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गति-
स्तत्ताहक्तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते।
अस्थानोपनतामकालसुलभां तृष्णां प्रति क्रुध्य भो-
स्त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनर्मारवः॥

अत्र कश्चित्सेवकः प्राप्तः प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रत्यशाविशस्यमानहृदयः केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोध्यते। तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण

विशेष कथन की इच्छा से इष्ट वस्तु का प्रतिषेध-सा किया जाय तो वह 'वक्ष्यमाण-विषय' और 'उक्तविषय' के भेद से दो प्रकार का 'आक्षेप' होता है।

उसमें पहला जैसे—

'यदि उत्सुक मैं क्षण भर भी तुझे न देखूँ तब'''इतना ही रहने दो, इसके बाद की दूसरी तेरी अप्रिय बात कहने से क्या लाभ ?'

यह वक्ष्यमाण मरणविषय निषेधरूप आक्षेप है। 'इतना रहने दो' केवल यही यहाँ 'मर जाऊँगी' इस बात को आक्षिप्त (व्यञ्जित) करता हुआ चारुत्व का निबन्धन (आधार) है। इस प्रकार आक्षेप्य द्वारा आक्षेपक अलंकृत होता हुआ प्रधान ठहरता है। 'उक्तविषय', जैसे मेरा ही—

'हे हे पथिक ! तुम क्यों गलत जगह में आ पहुँचे ?' 'मुझे ऐसी प्यास ही लगी है, मैं क्या करता ?' यह दुष्ट मार्ग तो जल को छिपा लेता है !' अरे गलत जगह में उत्पन्न हुई अकाल सुलभ मेरी तृष्णा के प्रति क्रोध करो, अन्यथा (किसे नहीं मालूम कि) यह तीनों लोकों में प्रसिद्ध प्रभाव और महिमा वाला मरु का मार्ग है (यहाँ जल की आशा व्यर्थ है)।'

यहाँ कोई सेवक अपने मालिक के पास पहुँचा है, इस प्रत्याशा से कि क्यों नहीं इससे वह अपने प्राप्तव्य का लाभ करेगा ? उसका हृदय विश्वास कर रहा है, तभी कोई उसे इस 'आक्षेप' के द्वारा प्रतिबोधन करता है। वहाँ निषेधरूप आक्षेप के द्वारा

मुखचुम्बनादि व्यापार को शशी में आरोपित किया है। यदि एकशेष कर दिया जायगा तब इस प्रकार नायिका और नायक के शशी और निशा में व्यवहार के समारोपण का स्पष्टीकरण नहीं हो सकेगा।

लोचनम्

वाच्यस्यैवासत्पुरुषसेवातद्वैफल्यतत्कृतोद्वेगात्मनः शान्तरसस्थायिभूतनिर्वेद-विभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम्। वामनस्य तु 'उपमानाक्षेपः' इत्याक्षेपलक्षणम्। उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः; अस्मिन्सति किं त्वया कृत्यमिति। यथा—

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च तैः किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
ही धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः॥

अत्र व्यङ्ग्योऽप्युपमार्थो वाच्यस्यैवोपस्कुरुते। किं तेन कृत्यमिति स्वपहस्तनारूप आक्षेपो वाच्य एव चमत्कारकारणम्। यदि वोपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्। यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।

असत्पुरुष की सेवा और उसके वैफल्य तथा उससे उत्पन्न उद्वेगरूप वाच्य का शान्तरस के स्थायीभाव निर्वेद के (उद्दीपक) विभाव होने के कारण चमत्कृतिकारित्व[1] है। परन्तु वामन का 'आक्षेप' लक्षण 'उपमान का आक्षेप' है। उपमान चन्द्र आदि का आक्षेप, इसके रहते तुझसे क्या होगा ? जैसे—

'सौम्य एवं सुभग उस रमणी का वह मुख विद्यमान है तो पूर्णिमा के चन्द्र से क्या ? यदि सौन्दर्य का स्थानभूत उसकी आँखें हैं तब उन नीले कमलों से क्या ? वहाँ उसके अधर के रहते कोमल कान्ति वाले किसलयों से क्या ? ओह ! एक वस्तु के वाद पुनः उसी के समान दूसरी वस्तु के निर्माण में विधाता का अपूर्व आग्रह है !'

यहाँ उपमारूप अर्थ व्यंग्य होता हुआ भी वाच्य का ही उपस्कारक है। 'उससे क्या काम ?' यह 'अपहस्तना' (निराकरण) रूप 'आक्षेप' वाच्य होकर ही चमत्कार का कारण है। अथवा यदि उपमान का आक्षेप अर्थात् '(अर्थ की) सामर्थ्य से आकर्षण' है। जैसे—

'अपने पाण्डु वर्ण वाले पयोधर (मेघ, पक्ष में स्तन) से गीले नखक्षत की भाँति

१. पहले प्रस्तुत उदाहरण के मूल स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिए। इसका दूसरा चरण, जैसा कि 'तत्तादृक् तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते' मुद्रित है, अर्थ होगा 'उस प्रकार मुझ प्यासे की और दूसरी गति क्या हो सकती है ?' यह दुष्ट मति का (मार्ग अथवा व्यक्ति) जल को छिपा लेता है। किन्तु 'बालप्रिया' में इस चरण के अन्य पाठभेद को मानकर कि 'भे खल ! सृतिः सेयं' अर्थात् रे दुष्ट पथिक ! मुझ प्यासे के लिए और दूसरी गति क्या है ?' 'यह मार्ग (सृति) जल को छिपा लेता है।' व्याख्या किया है। मैंने इन दोनों पाठों से कुछ मिलता-जुलता अर्थ किया है। यहाँ असत्पुरुष की सेवा की विफलता वाच्य हो रही है और शान्तरस व्यङ्ग्य है। 'अस्थान में पहुँचने से इष्ट का लाभ होनेवाला नहीं' इस 'आक्षेप' से वाच्य की शोभा हो रही है। चमत्कार के कम-वेश होने पर ही अप्रधानता और प्रधानता का निर्णय होता है यह सिद्धान्त मूल वृत्तिग्रन्थ में, इसी प्रसंग में आचार्य ने निर्देश कर दिया है। इस उदाहरण में 'आक्षेप' का विषय उक्त है।

ध्वन्यालोकः

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा । यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः ॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा ।

क्योंकि, वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है। जैसे—

सन्ध्या (नायिका) अनुराग (सन्ध्याकालीन लाली, अथवा प्रेम) से भरी है और दिवस (नायक) उसके सामने सरक रहा है। अहो, दैव की गति वैसी है कि तब भी समागम नहीं होता।

यहाँ व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व उत्कर्षयुक्त है, अतः उसीके प्राधान्य की विवक्षा है।

लोचनम्

प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव । तदाह—*चारुत्वोत्कर्षेति* । अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—*अनुरागवतीति* । तेनाक्षेपप्रमेयसमर्थनमेवापरिसमाप्तमिति मन्तव्यम् । तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः । *अहो दैवगतिरिति* । गुरुपारतन्त्र्यादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः । *तस्यैवेति* । वाच्यस्यैवेति यावत् । वामनाभिप्राये-

इन्द्र-धनुष को धारण किए हुई और सकलंक चन्द्रमा को प्रसन्न करती हुई शरद् ने सूर्य के ताप को बढ़ा दिया।'

यहाँ ईर्ष्या से कलुषित अन्य [1]नायकरूप उपमान आक्षिप्त होकर भी वाच्यार्थ को ही अलंकृत करता है। इस प्रकार यह तो 'समासोक्ति' ही है। जैसा कि कहा है—चारुत्व के उत्कर्ष—। यहीं पर प्रसिद्ध दृष्टान्त को कहते हैं—सन्ध्या अनुराग से—। इसलिए यह मानना चाहिए कि 'आक्षेप' अलङ्कार के प्रमेय (उदाहरण) का समर्थन अभी पूरा समाप्त नहीं हुआ है। वहाँ उदाहरण के रूप में 'समासोक्ति' का श्लोक पढ़ा है। अहो दैवगतिः—। अर्थात् गुरुजनों की परतन्त्रता आदि के कारण समागम नहीं होता। उसी के—मतलब कि वाच्य की ही। वामन के अभिप्राय से यह 'आक्षेप'

१. शरद् नायिका है और चन्द्र उसका प्रिय नायक। सूर्य उसका ईर्ष्यालु नायक है। यह नायक-नायिका व्यवहार यहाँ जो श्लिष्ट प्रयोगों से व्यञ्जित हो रहा है उससे वाच्य की शोभा हो

ध्वन्यालोकः

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

और, जैसे दीपक, अपह्नुति आदि में व्यङ्ग्य रूप से उपमा की प्रतीति होने पर भी प्राधान्यतः विवक्षित न होने के कारण उससे व्यपदेश नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी देखना चाहिए ।

लोचनम्

णायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्। एषापि समासोक्तिर्वाऽस्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम् । सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्ग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः।

एवं प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव भवतीत्यत्र दृष्टान्तं स्वपरप्रसिद्धमाह—*यथा चेति* । *उपमाया इति* । उपमानोपमेयभावस्येत्यर्थः तयेत्युपमया। दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते' इति लक्षणम्।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥

है, किन्तु 'भामह' के अभिप्राय से समासोक्ति है, इस आशय को हृदय में रखकर ग्रन्थकार ने युक्ति से समासोक्ति और आक्षेप का यह एक ही उदाहरण दिया है। यह 'समासोक्ति' हो अथवा आक्षेप, इससे हमें क्या ? सर्वथा हमारा साध्य यह है कि अलङ्कारों में व्यंग्य वाच्य में गुणीभूत होकर रहता है—इस आशय को इस ग्रन्थ में हमारे गुरुदेव ने निरूपण किया है ।

इस प्रकार प्राधान्य की विवक्षा के सम्बन्ध में दृष्टान्त कहकर व्यपदेश (नाम का व्यवहार) भी प्राधान्य के कारण ही होता है, इसका यहाँ अपने और दूसरे के अनुसार प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं—और जैसे—। उपमा की—। अर्थात् उपमानोपमेयभाव की। उससे—। अर्थात् उपमा से । 'दीपक' में, 'आदिविषय, मध्यविषय और अन्तविषय के भेद से तीन प्रकार का दीपक होता है' यह लक्षण है।

शान पर निखारा हुआ मणि, शस्त्रों के प्रहार से आहत समरविजयी वीर, एक कलामात्र शेषवाला चन्द्र, सुरत के प्रसंग में मसली हुई बालललना, क्षीण मद वाला

रही है। इस प्रकार वामन के पक्ष से यहाँ 'आक्षेप' है किन्तु भामह के मान्य मत के अनुसार 'समासोक्ति' है। वामन का लक्षण सर्वमान्य नहीं हो सका ।

लोचनम्

इत्यत्र दीपनकृतमेव चारुत्वम्। 'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा' इति। तत्रापह्नुत्यैव शोभा। यथा—

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ इति।

एवमाक्षेपं विचार्योद्देशक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह—*अनुक्तनिमित्तायामिति*।

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता॥

यथा—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः। उक्तनिमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का। यथा—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने॥

हाथी, शरत्काल में सूखे पुलिन वाली सरिता और याचकों को दान देकर क्षीण धन वाले लोग अपनी कृशता से शोभित होते हैं।

यहाँ चारुत्व दीपन—(अनेक में एक धर्म का अन्वयरूप दीपन–) कृत है। 'अभीष्ट (अर्थात् वर्ण्यविषय) का निषेध, जिसमें उपमा व्यंग्य होती हो, अपह्नुति कहलाता है।' वहाँ अपह्नुति (निषेध) से ही शोभा होती है। जैसे—

'यह मदमुखर भ्रमर-पङ्क्ति बार-बार नहीं गुञ्जार कर रही है, बल्कि यह खींचे हुए कामदेव के धनुष की आवाज है।'

इस प्रकार 'आक्षेप' का विचार करके निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही प्रमेयान्तर को कहते हैं—अनुक्तनिमित्ता—।

'एकदेश के न रहने पर, कुछ अतिशय बात के ख्यापन के लिए जो गुणान्तर का कथन होता है उसे 'विशेषोक्ति' कहते हैं।'

जैसे—

'वह फूल को बाणों वाला कामदेव अकेले ही तीनों जगत् पर विजय प्राप्त करता है, जिसके शरीर को नष्ट करते हुए भी शिवजी ने बल को नष्ट नहीं किया।

यह विशेषोक्ति अचिन्त्यनिमित्ता है (क्योंकि शरीर के हरण होने पर भी बल के हरण न होने का कारण नहीं कहा जा सकता)। इसलिए इसमें व्यंग्य का सद्भाव नहीं है। 'उक्तनिमित्ता' (अर्थात् जिस विशेषोक्ति में निमित्त या कारण का कथन किया गया होता है) में भी वस्तु के स्वभावमात्र में पर्यवसान हो जाता है, इसलिए वहाँ भी व्यंग्य के सद्भाव की शंका नहीं। जैसे—

'कपूर के समान जला हुआ भी जो जन-जन में शक्तिमान् है उस फूलों के धनुषवाले अवार्यवीर्य कामदेव के लिए नमस्कार है।'

ध्वन्यालोकः

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात्प्रतीतिमात्रं न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्। पर्यायोक्तेऽपि यदि

अनुक्तनिमित्ता 'विशेपोक्ति' में भी—

'अपने साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'हाँ' कहकर नींद छोड़ देने पर भी एवं जाने की इच्छा रखता हुआ भी पथिक अधिक संकोच को शिथिल नहीं करता है।'

इत्यादि (उदाहरण) में प्रकरण की सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की प्रतीतिमात्र हो जाती है, न कि उस प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति होती है अतः (व्यङ्ग्य का) प्राधान्य नहीं है। 'पर्यायोक्त' में भी यदि प्राधान्यतः व्यङ्ग्य है तो उसका 'ध्वनि' में

लोचनम्

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते—*अनुक्तनिमित्तायामपीति*। *व्यङ्ग्यस्येति*। शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भटः, तदभिप्रायेणाह—*न त्वत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति*। यत्तु रसिकैरपि निमित्तं कल्पितम्—'कान्तासमागमे गमनादपि लघुतरमुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागमबुद्ध्या सङ्कोचं नात्यजत्' इति तदपि निमित्तं चारुत्वहेतुतया नालङ्कारविद्भिः कल्पितम्, अपि तु विशेषोक्तिभाग एव न शिथिलयतीत्येवम्भूतोऽभिव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चारुत्वहेतुः। अन्यथा तु विशेपोक्तिरेवेयं न भवेत्। एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयन्न त्वौद्भटेनैवाभिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम्। *पर्यायोक्तेऽपीति*—

(यहाँ 'अवार्यवीर्य' इस निमित्त का कथन है, अतः यह 'उक्तनिमित्ता' है)।

अतः (विशेषोक्ति के इन) दोनों प्रकारों को छोड़कर तीसरे प्रकार की आशङ्का करते हैं—अनुक्तनिमित्ता में भी—। व्यङ्ग्य की—। 'भट्ट उद्भट' के अनुसार 'यहाँ शीत के कारण कष्ट निमित्त है।' इस अभिप्राय से कहते हैं—न कि उस व्यङ्ग्य की प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति होती है—। जो कि रसिक जनों ने भी (यहाँ) 'निमित्त' की कल्पना की है, कि—'कान्ता के समागम के लिए गमन करने से भी लघुतर (शीघ्रतर) उपाय स्वप्न को मानते हुए पथिक ने, जिससे कि नींद लग जाय, इस बुद्धि से, सङ्कोच नहीं छोड़ा।' इस निमित्त को भी अलङ्कारज्ञों ने चारुत्वहेतु के रूप में नहीं स्वीकार किया है, बल्कि अभिव्यक्त होते हुए निमित्त के द्वारा उपस्कृत नहीं होता 'नहीं शिथिल करता है' इस प्रकार का विशेषोक्ति-अंश ही चारुत्व का हेतु है। अन्यथा, यह विशेषोक्ति ही न होगी। इस प्रकार (उद्भट और रसिकों के) दो अभिप्रायों को ग्रन्थकार ने सामान्य उक्ति ('व्यङ्ग्य की' यह उक्ति) द्वारा निरूपण

ध्वन्यालोकः

प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वने-

अन्तर्भाव हो भी जाय, परन्तु ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव नहीं होगा। क्योंकि उसका

लोचनम्

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

इति लक्षणम्। यथा—

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना॥ इति।

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलंकृतः। अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्, अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते। यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद्व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह—*यदि प्राधान्येनेति*। *ध्वनाविति*। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारस्स्यादि-

किया है, न कि उद्भट के ही अभिप्राय से ग्रन्थ व्यवस्थित है, ऐसा मानना चाहिए।

'जो प्रकारान्तर से अभिधान किया जाता है, अर्थात् और वाचक के व्यापारों से रहित, व्यञ्जन रूप व्यापार से जो कहा जाता है वह पर्यायोक्त (अलङ्कार) है।'

यह लक्षण है। जैसे—'शत्रु के विनाश की दृढ़ इच्छा वाले, उन्मार्गगामी मुनि (परशुराम) को (भीष्म के) इस धनुष ने धर्म-पालन की शिक्षा दी।'

यहाँ यद्यपि भीष्म का भार्गव—परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करने वाला प्रभाव प्रतीत होता है, तथापि उस (प्रतीयमानार्थ) की सहायता से 'धर्म-पालन की शिक्षा दी' इस अभिधीयमान (वाच्यार्थ) से ही काव्यार्थ अलङ्कृत है। अत एव पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर से अवगम रूप व्यङ्ग्य से उपलक्षित होकर जो अभिहित होता है वह अभिधीयमान उक्त ही होकर 'पर्यायोक्त' कहलाता है, यह लक्षण—पद है, एवं 'पर्यायोक्त' यह लक्ष्य—पद है। और इसका अर्थालङ्कारत्व रूप अलङ्कार का सामान्य लक्षण है। यह सब कुछ उसमें लग जाता है। यदि—'अभिधीयते' ('अभिहित होता है') इसका बलाद् व्याख्यान 'प्रधान रूप से प्रतीत होता है, यह करते हैं, और 'भम धम्मिअ' इत्यादि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तब इसका अलङ्कारत्व ही दूर हट जायगा, क्योंकि 'आत्मा' के रूप में इसका पर्यवसान होगा। तब अलङ्कारों के बीच गणना न होगी। इसके भेदान्तर भी कहे जायेंगे। इसे कहते हैं—यदि प्रधान रूप से—। ध्वनि में—। अर्थात् आत्मा में अन्तर्भाव होने से वह आत्मा ही होगा,

ध्वन्यालोकः

स्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायो भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनाभावेनाविवक्षितत्वात्।

महाविषय रूप एवं अङ्गीरूप से प्रतिपादन करेंगे। ऐसा नहीं कि जैसा भामह ने जिस 'पर्यायोक्त' को कहा है उसके सदृश पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य का ही प्राधान्य है, क्योंकि वहाँ वाच्य के उपसर्जनीभाव (गुणीभाव) की विवक्षा नहीं की गयी है।

लोचनम्

त्यर्थः। *तत्रेति*। यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः। ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकत्वाङ्गित्वे तस्योपगम्येते, त्यज्यते चालङ्कारता, तर्ह्यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात्पर्यायोक्तवाचेति भावः। न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलितमिति दर्शयति—न *पुनरिति*। भामहस्य यादृक्तदीयं रूपमभिमतं तादृगुदाहरणेन दर्शितम्। तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात्। तेन तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्र नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः।

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'भम धम्मिअ' इत्याद्युदाह्रियते, तदस्मच्छिष्यतैव। केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रवणेनात्मसंस्कार इत्यनार्यचेष्टितम्।

अलङ्कार नहीं। वहाँ—। अलङ्कार के रूप में जैसा विवक्षित है वैसे में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा, हमने उस प्रकार 'ध्वनि' को नहीं कहा है। क्योंकि 'ध्वनि' महाविषय है, सर्वत्र होने से व्यापक और सबका प्रतिष्ठान (आधार) होने से अङ्गी है। अलङ्कार दूसरे अलङ्कारों की तरह व्यापक नहीं है और अङ्गी भी नहीं है, क्योंकि वह अपने अलङ्कार्य के अधीन होता है। अगर उस (अलङ्कार) का व्यापकत्व एवं अङ्गित्व मानते हैं और अलङ्कारता छोड़ देते हैं तो केवल मात्सर्यग्रह के कारण 'पर्यायोक्त' के कथन द्वारा भी हमारा पक्ष ही अवलम्बन किया जाता है—यह मतलब है। न कि इतना भी (व्यङ्ग्य का प्राधान्य भी) प्राचीनों ने देखा है, अपितु हमने ही उसका उन्मीलन किया है, इस बात को दिखाते हैं—ऐसा नहीं—। भामह को जैसा उसका (पर्यायोक्त का) रूप अभिमत था वैसा उदाहरण से दिखाया जा चुका है। वहाँ भी व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं है, क्योंकि व्यङ्ग्य वहाँ चारुत्व का कारण नहीं है। इसलिए उसका अनुसरण करके जो कुछ दूसरा भी तत्सदृश उदाहरण देंगे वहाँ भी व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं होगा—यह (ग्रन्थ की) सङ्गति है।

यदि उन (भामह) के कहे उदाहरण को हटाकर 'भम धम्मिअ०' इत्यादि को उदाहरण देते हैं तो हमारा शिष्य ही बनते हैं। केवल न्याय का अवलम्बन न करके

लोचनम्

यदाहुरैतिहासिकाः—'अवज्ञयाप्यवच्छाद्य शृण्वन्नरकमृच्छति' इति। भामहेन ह्युदाहृतम्—

'गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
विप्रा न भुञ्जते' इति।

एतद्धि भगवद्वासुदेववचनं पर्यायेण रसदानं निषेधति। यत्स एवाह—'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति। न चास्य रसदाननिषेधस्य व्यङ्ग्यस्य किञ्चिच्चारुत्वमस्ति येन प्राधान्यं शङ्क्येत। अपि तु तद्व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यन्नभोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत्प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते। न ह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति

अपश्रवण द्वारा आत्मा का संस्कार यह अनार्य-चेष्टा है। जैसा कि ऐतिहासिकों ने कहा है—'(विद्या में एवं गुरु के प्रति) अवज्ञा से आत्मापह्नव करके सुनता हुआ व्यक्ति नरक जाता है।' भामह ने उदाहरण दिया है—

'जिस अन्न को स्वाध्याय करने वाले विप्रलोग नहीं खाते उसे हम लोग घरों में और मार्गों में नहीं खाते हैं।'

यह भगवान् वासुदेव का वचन 'पर्याय' द्वारा (प्रकारान्तर से) रसदान (विषदान) का निषेध करता है। जो कि वे ही कहते हैं—'रसदान (विषदान) की निवृत्ति के लिए।' इस विषदान के निषेध रूप व्यङ्ग्य का कोई चारुत्व नहीं है, जिससे उसके प्राधान्य की शङ्का होगी। बल्कि उस व्यङ्ग्य से उपोद्बलित 'विप्रभोजन के विना जो नहीं भोजन है' वही उक्त (पर्याय के) प्रकार से पर्यायोक्त होकर प्राकरणिक भोजन के अर्थ को अलङ्कृत करता है। वासुदेव श्रीकृष्ण का (शिशुपाल के प्रति) यह विवक्षित नहीं है कि विषरहित भोजन हो इस[2] प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार ही

१. यह निर्देश पहले ही कर चुके हैं कि आचार्य भामह ने जो 'पर्यायोक्त' अलङ्कार का उदाहरण दिया है उसमें व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं है। स्वयं उन्होंने 'अभिधीयते' कह-कर व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य को प्रधानता दी है। यदि इस बात को न स्वीकार करके 'भम धम्मिअ' इत्यादि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं तब स्वयं ध्वनिमार्ग के पक्षपाती बनकर हमारी शिष्यता स्वीकार करते हैं। क्योंकि इस स्थल में व्यंग्य की प्रधानता है और तदपेक्षया वाच्य गुणीभूत है। इस प्रकार यह 'ध्वनि' का उदाहरण है। ऐसी स्थिति में 'पर्यायोक्त' कोई अलङ्कार नहीं रह जाता है बल्कि वह अलङ्कार्य होकर अलङ्कार-ध्वनि की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनायास ध्वनि का यहाँ प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार वादी ने स्वयं ध्वनि को स्वीकार कर लिया और ध्वनिवादी आचार्य का बेढंगा 'शिष्य' हुआ। 'बेढंगा' इसलिए कि उसने परम्परा से गुरु के यहाँ उपस्थित होकर अध्ययन नहीं किया और स्वयं गुरु की बात तक जैसे-तैसे पहुँच गया। नियमतः शिष्य को गुरु के मुख से ही शास्त्रार्थ का श्रवण करना चाहिए, यही आर्य-परम्परा है। यदि शिष्य ने ऐसा न किया और विद्या ग्रहण कर लिया तो उसके इस प्रयत्न को 'अपश्रवण' और 'अनार्यचेष्टित' कहा जाता है।

२. भगवान् कृष्ण का यह अभिप्राय है कि शिशुपाल कहीं अन्न के साथ मुझे विष न दे दे, इस लिए वह पहले ब्राह्मणों को खिला कर स्वयं खाने की बात करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में

ध्वन्यालोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

और फिर अपह्नुति और दीपक (अलङ्कारों) में वाच्य का प्राधान्य और व्यङ्ग्य का अनुयायित्व प्रसिद्ध ही है ।

लोचनम्

चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् । *अपह्नुतिदीपकयोरिति* । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह—*प्रसिद्धमिति* । प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः । पूर्वं चैतदुपमादिव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्ततयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृत्—दीपकस्य 'सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च ।

प्राचीनों का अभिमत है, यह तात्पर्य है। अपह्नुति और दीपक में— । यह पहले ही निर्णय कर चुके हैं। अत एव कहते हैं—प्रसिद्ध— । अर्थात् प्रतीत, प्रसाधित एवं प्रामाणिक है। पहले तो यह 'उपमादि के व्यपदेश का भाजन ही जिस प्रकार नहीं हो सकता' इस प्रकार से दृष्टान्त के रूप में उक्त होकर भी उद्देश क्रम की पूर्ति के लिए एवं ग्रन्थशय्या की योजना[1] के लिए फिर भी कहा है—'व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने के कारण ध्वनि नहीं है।' प्रकारान्तर से (अप्राधान्य रूप) वस्तु एक ही है इस प्रकार उपमा के व्यङ्ग्य होने से 'ध्वनि' की शङ्का नहीं। जो कि विवरणकार ने—'दीपक का सर्वत्र उपमा से सम्बन्ध नहीं है' यह बहुत से उदाहरण—प्रपञ्च द्वारा विचार किया है, वह उपयोगी नहीं, तथा निःसार एवं सहज ही निराकरणीय है।

रस अर्थात् विष के दान का निषेध पर्याय या प्रकारान्तर से है व्यंग्य, किन्तु यह व्यङ्ग्य आगे की 'तच्च रसदाननिवृत्तये' (विषदान की निवृत्ति के लिए) इस उक्ति से अभिहित हो जाता है। इस प्रकार यह पर्यायोक्त अलङ्कार है। क्योंकि अभिहित हो जाने के कारण व्यंग्य का चमत्कार जाता रहता है।

१. पहले 'समासोक्ति' और 'आक्षेप' के प्रसंग में यह भी सिद्धान्ततः आचार्य ने कहा था कि व्यंग्य और वाच्य में जो चारुत्वयुक्त होने के कारण प्रधान होता है उसी के आधार पर व्यपदेश भी होता है। इसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने वहाँ दीपक और अपह्नुति की चर्चा की थी, जिनमें उपमा व्यंग्य होती हुई भी प्राधान्यतः विवक्षित नहीं है। प्रस्तुत में पुनः अपह्नुति और दीपक अलङ्कारों के उल्लेख पहले उल्लिखित अलङ्कारों के उद्देशक्रम की पूर्ति करने एवं ग्रन्थशय्या की योजना के उद्देश्य से ग्रन्थकार ने किया है। समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक और सङ्कर अलङ्कारों का नामोल्लेख किया है। इसी क्रम में पर्यायोक्त के बाद अपह्नुति और दीपक की यहाँ चर्चा हुई है।

ध्वन्यालोकः

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् ।

सङ्करालङ्कार में भी जब अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया (सौन्दर्य) को अनुगृहीत (पुष्ट) करता है तब व्यङ्ग्य के प्राधान्यतः विवक्षित न होने पर ध्वनि का विषय नहीं होता ।

लोचनम्

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभङ्गनम् ।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ।। इति ।।

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात् । न हि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः । तथा हि—

राम इव दशरथोऽभूद्दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः ।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम् ।।

इति न न भवति । तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रास इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन । *सङ्करालङ्कारेऽपीति* ।

'मद प्रीति उत्पन्न करता है, वह (प्रीति) मान को दूर करने वाले अनङ्ग को, वह (अनङ्ग) प्रियतमा के सङ्गम की उत्कण्ठा को और वह (उत्कण्ठा) मन के शोक को ।'

यहाँ उत्तरोत्तर उत्पन्न होने पर भी उपमानोपमेयभाव सहज ही बन सकता है । यह नहीं कि क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता । जैसा कि—

राम के सदृश दशरथ हुए, दशरथ के सदृश रघु, रघु के सदृश अज एवं अज के समान दिलीप का वंश । इस प्रकार राम की कीर्ति आश्चर्ययुक्त है ।

यहाँ (उपमानोपमेयभाव) नहीं है यह नहीं । इस लिए क्रमिकत्व, सम अथवा प्राकरणिकत्व उपमा को रोक लेता है, यह कौन सा त्रास है ? अब गर्दभी को बार-बार दुहना ठीक नहीं । सङ्करा[१]लङ्कार में भी— ।

१. 'लोचन' में निर्दिष्ट 'सङ्करालङ्कार' के सम्बन्ध में संक्षिप्त किन्तु स्पष्टार्थ विचार यह है कि भामह आदि ने 'सङ्कर' के चार प्रकार गिनाए हैं, जब कि आगे चल कर उसके तीन ही प्रकार निर्दिष्ट किए जाते हैं । तीन प्रकार हैं—अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर और सन्देहसङ्कर । भामह ने एकाश्रयानुप्रवेश को एकवाक्यानुवर्तन और एकवाक्यांशसमावेश इन दो रूपों में विभक्त कर दिया है ।

जैसा कि 'सन्देह' सङ्कर का उदाहरण 'सरसिजवदना' आदि है वहाँ रूपक के अनुसार समास करने पर, कि 'शशी एव वदनं यस्याः सा' और उपमा के अनुसार समास करने पर, 'शशिवद् वदनं यस्याः सा' रूप होगें । तीनों विशेषण क्रमशः आकाश, जल और स्थल से सम्बन्ध होने से नायिका का उसमें सम्भव होना बोधित होता है । यहाँ पर कोई प्रमाण नहीं जिसके आधार पर

लोचनम्

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः ॥

इति लक्षणादेकः प्रकारः । यथा ममैव—

शशिवदनाऽसितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम् ।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना ॥ इति ॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद्द्वयासम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात्सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना । योऽपि द्वितीयः प्रकारः—शब्दार्थालङ्काराणामेकत्रभाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का । यथा—'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्' इति । अत्रैव यमकमुपमा च । तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता । यथा—

सिरुद्ध दो अलङ्कारों के उपस्थित होने पर, एक ही स्थान में दोनों की स्थिति सम्भव न होने पर और उनमें से एक को छोड़कर दूसरे के ग्रहण करने में साधक एवं बाधक के अभाव में सङ्कर (सन्देह सङ्कर) होता है ।

इस लक्षण से एक प्रकार का सङ्कर हुआ । जैसे, मेरा ही—

'शशिवदना, नीलकमलनयना, उज्ज्वलकुन्ददन्तावली इस नायिका को विधाता ने आकाश, जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले मनोहर पदार्थों के आकार वाली बनाया है ।'

यहाँ शशी वदन है इसका, अथवा शशी के समान वदन है इसका, यह रूपक और उपमा दो अलङ्कारों के उल्लेख से एक स्थान में दोनों के सम्भव न होने के कारण तथा एकतर पक्ष के त्याग अथवा ग्रहण में प्रमाण के अभाव होने से 'सङ्कर' अलङ्कार है, इस प्रकार जब 'सङ्कर' के व्यङ्ग्य होने अथवा वाच्य होने में ही कोई निश्चय नहीं तब इसके 'ध्वनि' होने की सम्भावना कैसी ? जो कि दूसरा (सङ्कर अलङ्कार का) प्रकार है—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का एकत्र भाव, वहाँ भी प्रतीयमान की सम्भावना कैसी ? जैसे—'काम के सदृश प्रिय को याद कर जिसे आलिङ्गन के द्वारा तू रमाती है ।' यहीं यमक और उपमा है । तीसरा प्रकार—जहाँ एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार हैं, वहाँ भी दो के बराबर होने से किसकी व्यङ्ग्यता होगी ? जैसे—

यह माना जाय कि उपमा और रूपक में से कोइ एक है । इस प्रकार यहाँ दोनों का सन्देह रूप सङ्कर है ।

दूसरा प्रकार है, शब्द और अर्थ के अलङ्कारों का एक वाक्य में प्रवेश । तीसरा प्रकार है एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार । द्वितीय प्रकार के उदाहरण में 'स्मर-स्मर' इस आवृत्ति से यमक (शब्दालङ्कार) है और 'स्मर' (काम) के सदृश' (स्मरमिव) यह उपमा (अर्थालङ्कार) । इस प्रकार दोनों का एकाश्रयानुवेश है । तीसरे प्रकार के उदाहरण में सूर्य स्वामी है और वासर सेवक है । सूर्य का अस्त होना स्वामी पर विपत्ति है और वासर का तमोगुहा में प्रवेश समुचित

लोचनम्

तुल्योदयावसानत्वाद्गतेऽस्तं प्रति भास्वति ।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम् ॥ इति ॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्त्तिरूपकं दर्शयति । उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता । तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम् ।

शब्दार्थवर्त्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र वर्त्तिनः ।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाऽभिधीयते ॥ इति च ॥

चतुर्थस्तु प्रकारो यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम् । यथा—

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद् गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् । यथोक्तम्—

'जिसका उदय और अस्त दोनों समान ही हैं ऐसे सूर्य के अस्तङ्गत होने पर म्लान वासर मानों अन्धकार की गुहा में प्रवेश कर रहा है ।'

यहाँ ('अन्धकार की गुहा' इस स्थल का) एकदेशविवर्तिरूपक स्वामी की विपत्ति के समय समुचित व्रतग्रहण में प्रयत्नशील कुलपुत्र के रूपण को दर्शाता है । और 'इव' शब्द से उत्प्रेक्षा उक्त है । इस सङ्कर के दो प्रकार कहे गए ।

एक ही वाक्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों होते हैं, यह सङ्कर है, अथवा एक ही वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कारों का प्रवेश होता है तब भी सङ्कर कहा जाता है ।

चौथा प्रकार वह है अलङ्कारों का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव होता है, जैसे—

'दीर्घ लोचनों वाली उस (पार्वती) ने वायु से हिलते हुए नीलोत्पल के सदृश अधीर दृष्टिपात को मृगाङ्गनाओं से ग्रहण किया है अथवा मृगाङ्गनाओं ने उससे ग्रहण किया ।'

यहाँ मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से पार्वती के अवलोकन की उपमा यद्यपि व्यङ्ग्य हो रही है, तथापि वाच्य सन्देहालङ्कार के अभ्युत्थान करने वाली होने के कारण वह (व्यङ्ग्य उपमा) गुणीभूत है । क्योंकि अनुग्राह्य होने के कारण सन्देह में उसका (अनुग्राहिका व्यङ्ग्य उपमा का) पर्यवसान है । जैसा कि कहा है—

व्रतग्रहण है । पर इनका आरोप नहीं हुआ है, केवल 'तमोगुहा' में एकदेशविवर्ती रूपक है । 'विशतीव' 'मानों प्रवेश करता है', यहाँ उत्प्रेक्षा है । यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों समानरूप से वाच्य हैं ।

चतुर्थ प्रकार है अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर । उदाहरण में जो पार्वती के चञ्चल नेत्रों और हरिणी के चञ्चल नेत्रों में जो अधीर-विप्रेक्षित के आदान-प्रदान का सन्देह कवि ने किया है वहाँ 'पार्वती की चञ्चल आँखें हरिणी की आँखों के समान हैं, यह उपमा व्यंग्य हो रही है, किन्तु वह वाच्य सन्देह अलङ्कार का अभ्युत्थान करती है अतः अनुग्राहक होने के कारण गुणीभूत हो गई है । उसका पर्यवसान सन्देह में होता है ।

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्गयोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्गयस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्त-निर्दिष्टन्यायात्।

दो अलङ्कारों की सम्भावना में तो वाच्य और व्यङ्ग्य का प्राधान्य बराबर है। यदि कहिये कि वाच्य को गुणीभूत करके व्यङ्ग्य का वहाँ अवस्थान है तब वह भी 'ध्वनि' का विषय हो सकता है, न कि वही 'ध्वनि' है, ऐसा कह सकते हैं। जैसा कि 'पर्यायोक्त' में ढंग दिखा चुके हैं।

लोचनम्

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः॥

तदाह—*यदालङ्कार* इत्यादि। एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता। मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम्। आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने'त्या-द्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति—*अलङ्कारद्वयेति*। *सममिति*। द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः। ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम्। यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणँ णवरं पसिद्धिसरणाणम्।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे पिआमुहे दिट्ठे॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—*अथेति*। तत्रोत्तरम्—*तदा सोऽपीति*। सङ्करा-

'जहाँ परस्पर उपकार-पूर्वक अलङ्कार स्थित हैं और स्वतन्त्र रूप से आत्मलाभ नहीं प्राप्त करते हैं, वह भी 'सङ्कर' है।'

उसे कहते हैं—जब अलङ्कार इत्यादि—। इस प्रकार (सङ्कर) के चौथे प्रकार में भी ध्वनित्व का निराकरणीय किया। विचले दो प्रकारों में तो व्यङ्ग्य की सम्भावना ही नहीं है, यह कहा। 'शशिवदना०' इत्यादि उदाहृत (सङ्कर के) पहले प्रकार में किसी प्रकार सम्भावना है, यह आशङ्का करके निराकरण करते हैं—दो अलङ्कारों—। बराबर—। भाव यह कि क्योंकि दोनों ही आन्दोल्यमान (सन्दिह्यमान) हैं। जहाँ व्यङ्ग्य ही प्राधान्यतः मालूम होता है—वहाँ क्या करेंगे ? जैसे—

'केवल प्रसिद्धि पर ही ध्यान देने वाले (वस्तुतत्त्व का विचार न रखने वाले) खल जनों के गुणानुराग नहीं होता। चन्द्रकान्त मणि चन्द्र को देखकर प्रस्नुत होता है, प्रिया के मुख को देखकर नहीं प्रस्नुत होता।'

यहाँ[1] 'अर्थान्तरन्यास' वाच्यरूप से मालूम पड़ता है, किन्तु 'व्यतिरेक' और

१. सामान्य का विशेष से समर्थनरूप यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है, जो वाच्य है। क्योंकि

ध्वन्यालोकः

अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनि-सम्भावनां निराकरोति।

दूसरे यह कि सर्वत्र 'सङ्करालङ्कार' में (कहीं भी सङ्करालङ्कार में) 'सङ्कर' यह कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है।

लोचनम्

लङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेर्द्वितीयो भेदः। यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम्। अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्य-सम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह—*अपि चेति*। 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः। सङ्कीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत्।

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्त्तिता॥

'अपह्नुति' व्यङ्ग्य रूप से प्रधानतया मालूम पड़ते हैं, इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—यदि कहिए कि—। उस सम्बन्ध में उत्तर है—तब वह भी—। सङ्करालङ्कार ही यह नहीं है, अपितु अलङ्कार-ध्वनि नाम का यह 'ध्वनि' का दूसरा भेद है। और पर्यायोक्त के प्रसङ्ग में जो निरूपण किया है वह सब यहाँ अनुसरणीय है। अब, 'सङ्कर' के समस्त प्रभेदों में व्यङ्ग्य की सम्भावना के साधारण निरास का प्रकार कहते हैं—'कहीं भी सङ्करालङ्कार में' यह वाक्य का सम्बन्ध है, अर्थात् सब भेदों से भिन्न (सङ्कर के किसी भेद में)। क्योंकि सङ्कीर्णता अर्थात् मिश्रित होना, लोलीभाव (बिलकुल एक में मिलकर एकाकार हो जाना) है। वहाँ क्षीर और जल की भाँति एक ही प्रधानता कैसे होगी?

'अधिकार (प्रस्तुतत्व) से रहित (अप्रस्तुत) अन्य वस्तु की जो स्तुति (कथन या वर्णन) होती है उसे 'अप्रस्तुत' प्रशंसा' कहते हैं, वह तीन प्रकार की कही जाती है।'

यहाँ प्रसिद्धि के पक्षपाती खलजनों का गुणों में अनुराग नहीं होता इस सामान्य अर्थ का समर्थन 'चन्द्रकान्त चन्द्र के दिखने पर पिघलता है, प्रियामुख के नहीं' इस विशेष अर्थ द्वारा समर्थन अभिहित हुआ है। इससे 'प्रियामुख चन्द्र से भी ज्यादा सुन्दर है' यह 'व्यतिरेक' तथा यह चन्द्र नहीं है प्रियामुख ही चन्द्र है यह 'अपह्नुति' व्यंग्य प्राधान्यतः प्रतीत होता है।

१. अप्रस्तुत प्रशंसा अर्थात् अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आक्षेप। तात्पर्य यह कि अप्रस्तुत अभिधीयमान होता है और प्रस्तुत प्रतीयमान। किन्तु इतने से 'ध्वनि' का प्रसंग उपस्थित नहीं होता, बल्कि अभिधीयमान से प्रतीयमान में अधिक चारुत्व होना चाहिए, तत्प्रयुक्त प्राधान्य होना चाहिए। अप्रस्तुत प्रशंसा के तीन भेद हैं—सामान्यविशेषभावमूलक, कार्यकारणभावमूलक (निमित्तनिमित्तिभावमूलक) और सादृश्यमूलक। पहले दो भेदों के दो-दो रूप हैं—अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप और अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप तथा अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप और अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप। ये चार

ध्वन्यालोकः

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् ।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी जब सामान्य विशेष भाव से अथवा निमित्त-निमित्तिभाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान का प्राधान्य सम (बराबर) ही होता है।

लोचनम्

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः। स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति—सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च। तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—*अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन*। तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः—सामान्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः स एकः प्रकारः। यथा—

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम्।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः॥

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति। तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्त-

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करने वाले अप्रस्तुत का वर्णन। वह 'आक्षेप' तीन प्रकार का होता है—सामान्यविशेषभाव से, निमित्तनिमित्तिभाव से और सारूप्य से। उनमें प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का प्राधान्य तुल्य (बराबर) ही है, यह प्रतिज्ञा करते हैं—अप्रस्तुत से लेकर प्राधान्य—इस अन्त तक। उनमें, सामान्यविशेषभाव में भी दो अवस्थाएं हैं—जहाँ सामान्य अप्राकरणिक है और शब्द से कहा जाता है, तथा विशेष प्राकरणिक है और व्यञ्जित होता है, वह एक प्रकार है। जैसे—

'उफ, संसार की यह कितनी कठोरता है, उफ, आपत्तियों की यह कितनी क्रूरता है, उफ, स्वभावतः कुटिल दैव की गतियों का पार पाना कितना कठिन है!'

यहाँ दैव (विधाता) का प्राधान्य सामान्यरूप अप्रस्तुत कहा जाता हुआ किसी प्रकृत विनष्ट वस्तु के विशेष रूप में पर्यवसन्न होता है। वहाँ भी विशेष अंश के सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्ग्य विशेष की भाँति वाच्य सामान्य का भी

भेद तथा एक सादृश्यमूलक भेद मिलकर अप्रस्तुतप्रशंसा पाँच प्रकार की होती है। सादृश्यमूलक के भी तीन प्रभेद किए गए हैं—श्लेषनिमित्तक, समासोक्तिनिमित्तक एवं सादृश्यमात्रनिमित्तक। इनमें सादृश्यमूलक भेद को छोड़कर अन्य चार भेदों में अप्रस्तुत (वाच्य) और प्रस्तुत (प्रतीयमान) दोनों सम-प्राधान्य होते हैं। इसलिए उनमें ध्वनि का अवसर ही नहीं। किन्तु सादृश्यमूलक भेद में जब अभिधीयमान अप्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विवक्षित होगा तब अलङ्कारध्वनि का प्रसंग होगा और यदि विवक्षित नहीं होगा तब केवल अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होगा।

ध्वन्यालोकः

यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम् । यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणा मन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम् ।

और जब सामान्य अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राकरणिक विशेष प्रतीयमान के साथ सम्बन्ध होगा तब प्राधान्यतः विशेष की प्रतीति होने पर भी उसका सामान्य से अविनाभाव (व्याप्ति) होने के कारण सामान्य का भी प्राधान्य होगा। जब कि विशेष सामान्यनिष्ठ होगा तब भी सामान्य के प्राधान्य होने पर समस्त विशेषों का (सामान्य में) अन्तर्भाव होने के कारण विशेष का भी प्राधान्य होगा।

लोचनम्

त्वाद्व्यङ्ग्यविशेषवद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम्, न हि सामान्यविशेषयो- युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते। यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्य- माक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः। यथा—

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः श‍ृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै-
स्तत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये न विरोध इत्युक्तम्। एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, *यदा तावदित्या-*

प्राधान्य है। न कि सामान्य और विशेष में एक काल में प्राधान्य विरुद्ध है। जब कि विशेष अप्राकरणिक प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब दूसरा प्रकार है। जैसे—

(किसी मूर्ख के वृत्तान्त को कहीं से सुनकर विस्मय से कहते हुए किसी के प्रति किसी का वचन—)

'उसके मुख से यही कितना सुना! जो कि उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्ते पर स्थित जलकण को मोती समझ लिया। इससे भी ज्यादा और सुनो। जब वह जलकण को मोती समझकर उठाने लगा तब उंगली के स्पर्श होते ही शनैः उस जलकण के विलीन हो जाने पर 'हाय! हाय! उड़कर चला गया!' इस अन्तःशोक से वह कई दिनों से नहीं सोता है।'

यहाँ अस्थान (बेजगह) में महत्त्व का सम्भावन रूप सामान्य प्रस्तुत है और अप्रस्तुत जलबिन्दु में मणित्व का सम्भावन विशेष रूप वाच्य (या अभिधीयमान) है।

ध्वन्यालोकः

निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः ।

निमित्तनिमित्तिभाव में भी यही नियम लागू होगा ।

लोचनम्

दिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन । एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति—*निमित्तेति* । कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाक्षिपति । यथा—

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च ।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः ॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकीं श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्; तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्त-

वहाँ भी, सामान्य और विशेष के युगपत् प्राधान्य[1] में विरोध नहीं है, यह कहा जा चुका है । इस प्रकार दो भेदों वाला भी पहला प्रकार विचार कर लिया गया, जब इत्यादि से लेकर विशेष भी प्राधान्य—तक । इसी नियम को निमित्तनैमित्तिकभाव में भी अतिदेश (लागू) करते हुए उसका द्विविधत्व दिखाते हैं—निमित्त··· । कभी निमित्त (कारण) अप्रस्तुत अभिधीयमान होकर नैमित्तिक कार्य (अप्रस्तुत) का आक्षेप करता है । जैसे—

'जो अभ्युदय होने पर प्रसन्न होते हैं और दुःख पड़ने पर त्याग नहीं करते वे बान्धव हैं, वे सुहृद हैं, दूसरे लोग स्वार्थपरायण हैं ।'

यहाँ अप्रस्तुत सुहृद्–बान्धव रूप निमित्त को प्रस्तुत नैमित्तिक श्रद्धेयवचनता के व्यञ्जनार्थ सज्जन के प्रति गौरव के कारण वर्णन करते हैं । वहाँ नैमित्तिक की

१. जैसा कि वृत्तिग्रन्थ का निर्देश है, अप्रस्तुतप्रशंसा के सादृश्यमूलक भेद के अतिरिक्त चार भेदों में ध्वनि का अवसर क्यों नहीं है उसे यहाँ स्पष्टरूप से अवगत कर लेना चाहिए । अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आक्षेप ही 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है । जब कोई अप्रस्तुत और प्रस्तुत अर्थात् अभिधीयमान और प्रतीयमान में सामान्यविशेषभावरूप या निमित्तनिमित्तिभावरूप सम्बन्ध होगा तब दोनों बराबर प्रधान होंगे । क्योंकि सम्बन्ध की स्थिति में दोनों का बराबर होना अनिवार्य है । और जब प्रधानता समानरूप से दोनों में रहेगी तो किसी प्रकार 'ध्वनि' का प्रसंग हो नहीं सकता, क्योंकि वाच्य के गुणीभाव और व्यंग्य के प्राधान्य की विवक्षा में ही 'ध्वनि' का प्रसंग होता है । सामान्य और विशेष के युगपत् प्राधान्य में विरोध नहीं है, अर्थात् एक स्थान में, एक समय में दोनों प्रधान हो सकते हैं । सम्बन्ध की बात को लेकर यह कह सकते हैं कि जब सामान्यरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान होगा और विशेषरूप प्रस्तुत प्रतीयमान होगा तब, क्योंकि सामान्य के अन्तर्गत सभी विशेष आ जाते हैं (निर्विशेषं न सामान्यम् = विना विशेष के सामान्य नहीं होता), इस प्रकार 'अविनाभाव' होने के कारण जब सामान्यरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान का भी प्राधान्य होगा । इसी प्रकार जब विशेषरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान से सामान्यरूप प्रस्तुत का आक्षेप होगा तब जिस प्रकार सामान्य का प्राधान्य होगा उसी प्रकार विशेष का भी होगा, क्योंकि सामान्य में

लोचनम्

प्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्यम्। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा सेतौ—

सग्गं अपारिज्ञाअं कोत्थुहलच्छिरहिअं महुमहस्स उरम्।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम्॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम्। तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतं प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरकन्धरीकरोत्यात्मानमिति समप्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः। एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः। तत्रापि द्वौ प्रकारौ—अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

प्रतीति में भी निमित्त की प्रतीति ही अनुप्राणक होने के कारण प्रधान हो जाती है, अतः व्यङ्ग्य और व्यञ्जक, दोनों का प्राधान्य[१] है। कभी तो नैमित्तिक अप्रस्तुत अभिधीयमान होता हुआ प्रस्तुत निमित्त को व्यक्त करता है। जैसे 'सेतुबन्ध' में—

'समुद्रमथन से पहले पारिजात वृक्ष से रहित स्वर्ग को, कौस्तुभ और लक्ष्मी से रहित मधुसूदन (विष्णु) के वक्ष को तथा सुन्दर चन्द्र से रहित शिवजी के जटाभार को स्मरण करता हूँ।'

यहाँ जाम्बवान् वृद्धसेवा, चिरजीवितत्व एवं व्यवहारकौशल आदि निमित्तभूत प्रस्तुत को मन्त्रित्व में उपादेय के रूप में व्यक्त करने के लिए कौस्तुभ और लक्ष्मी (अथवा कौस्तुभमणि की शोभा) से रहित विष्णु के वक्ष के स्मरण आदि अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं। वहाँ नैमित्तिक की प्रतीति में भी वाच्यभूत नैमित्तिक (?) प्रत्युत उस निमित्त से अनुप्राणित होने के कारण अपने कन्धे को ऊपर उठाता है (अर्थात् प्रधान होता है)। अतः वाच्य और व्यङ्ग्य की समप्रधानता ही है। इस प्रकार दोनों प्रकारों को, प्रत्येक के दो-दो प्रभेदों के साथ विचार करके 'सारूप्य' नामक तीसरे प्रकार की परीक्षा करते हैं। वहाँ भी दो प्रकार हैं—कभी अप्रस्तुत वाच्य से चमत्कार होता है, व्यङ्ग्य तो वाच्य का मुँह ताकता है (अर्थात् अप्रधान होता है)। जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

सभी विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है। यही नियम अप्रस्तुत से प्रस्तुत के निमित्तनिमित्तिभाव अर्थात् कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के होने पर लागू होगा।

१. प्रस्तुत उदाहरण में निमित्त या कारणरूप अप्रस्तुत सुहृद्-बान्धव का वर्णन है तथा उससे प्रस्तुत नैमित्तिक या कार्य 'सुहृद्-बान्धव का श्रद्धेय-वचनत्व' आक्षिप्त होता है अर्थात् व्यञ्जन से प्रतीत होता है। परन्तु व्यञ्जना प्रतीत होनेमात्र से ध्वनि का प्रसंग नहीं होता, बल्कि उसके प्राधान्य के साथ अभिधीयमान का गुणीभाव भी होना चाहिए। किन्तु यहाँ अभिधीयमान अप्रस्तुत निमित्त प्रतीयमान प्रस्तुत नैमित्तिक के अनुप्राणक होने के कारण गुणीभूत न होकर प्रधान हो जाता है। इस प्रकार यहाँ व्यंग्य और व्यञ्जक दोनों का प्राधान्य है। इसी प्रकार आगे के

लोचनम्

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां
भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते, तथाप्यप्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम्। न ह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता। यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ। यथा ममैव—

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे।
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात्॥

'भाई वेताल ! जिसने तुम्हें प्राणों को अर्पित किया, बलपूर्वक जिसने तुम्हें उठाया, जिसके कन्धे पर देर तक तुम बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, उस प्रकार के इसका स्मितमात्र में प्राणापहार करते हुए तुम प्रत्यपकार करने वालों के आगे पहुँच जाते हो।'

यहाँ यद्यपि सारूप्यवश कोई दूसरा कृतघ्न आक्षिप्त होता है, तथापि अप्रस्तुत वेताल-वृत्तान्त की ही चमत्कार-कारिता है। न कि अचेतन के उपालम्भ की भाँति यह अर्थ असम्भाव्यमान होने से हृद्य नहीं है, इस लिए वाच्य की प्रधानता है। फिर यदि अत्यन्त असम्भाव्यमान उस (अप्रस्तुत अर्थ) के विशेषण वाले वर्णित अचेतन आदि से प्रस्तुत आक्षिप्यमाण हो करके चमत्कारकारी हो तब वह वस्तुध्वनि होता है।[1] जैसे, मेरा ही—

'हे पदार्थसमूह, लोगों के हृदयों को हठपूर्वक आक्रान्त करके उन्हें विविध चेष्टाओं से नचाते हुए अपने रहस्य को ढंककर जो कि तुम खेला करते हो तब भी अपने आपको सहृदय मानने के कारण दुर्ललित जन तुम्हें 'जड़' कहता है, वस्तुत; वह जड़ है, पर मैं मानता हूँ कि उसे जड़ कहना भी उसकी स्तुति है क्योंकि इस अंश में तुमसे उसकी समानता की सम्भावना होती है।'

उदाहरण में अभिधीयमान अप्रस्तुत नैमित्तिक से प्रस्तुत निमित्त की प्रतीति में निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण वाच्यभूत नैमित्तिक की प्रधानता भी होने के कारण वाच्य और व्यंग्य का समप्राधान्य समझना चाहिए।

१. सारूप्य का सादृश्य के वश अप्रस्तुत से प्रस्तुत के आक्षेप में यदि अधिक चमत्कारकारी प्रस्तुत होता है तब वहाँ वस्तुध्वनि का प्रसंग होता है। वह अप्रस्तुतप्रशंसा का स्थल नहीं है। यह बात भी मान्य है कि जो बात अत्यन्त असम्भव होती है उसके कथन में स्वभावतः चमत्कार

लोचनम्

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकतिरस्कृततिमिरप्रतानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयल्ँलोकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते। जडोऽयमिति ह्युद्यानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिनर्तयति। न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठु गर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडाचतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात्प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावननिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यद्युच्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावव्रातस्याविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति। जडादपि

'वीतराग भी सराग-जैसा' इस नियम के अनुसार कोई महापुरुष अपने अतिशय विवेक के आलोक से फैले अन्धकार को तिरस्कृत करके भी लोगों के बीच अपने को छिपाता हुआ, लोगों को मुखर करता हुआ, अपने में अज्ञान को स्वीकार करता हुआ, उन्हीं लोगों द्वारा 'यह मूर्ख है' कहकर जो तिरस्कृत होता है, ऐसी स्थिति में उसका प्रस्तुत लोकोत्तर चरित व्यङ्ग्य के रूप में प्राधान्यतः प्रकाशित होता है। क्योंकि उद्यान, चन्द्रोदय आदि भाव (पदार्थ) लोगों द्वारा 'यह जड़ है' कह कर तिरस्कृत होता है। बल्कि वह किसी विरही के मन को औत्सुक्य, चिन्ता से दुःखी करता है, दूसरे को खुश करता है, इस प्रकार स्वेच्छा से लोगों को विकार के प्रवर्तनों द्वारा नचाता रहता है। 'यह कैसा है' इस प्रकार कोई भी उसके भेद को नहीं समझता है, प्रत्युत महागम्भीर, अतिविदग्ध, शोभन, गर्वहीन, अतिशय क्रीड़ा में चतुर वह (भावव्रात = पदार्थ समूह) लोगों द्वारा 'जड़' रूप में उस कारण उसी वैदग्ध्य के सम्भावन रूप निमित्त से ही सम्भावित किया जाता है। जिस कारण से आत्मा को जड़ रूप से सम्भावन किया जाय उसी कारण यदि लोग 'सहृदय' सम्भावित हैं तो उन लोगों की, यदि 'तुम जड़ हो' तो इस प्रकार के अविदग्ध भावव्रात का जाड्य प्रसिद्ध है, इस प्रकार स्तुति[1] ही है। ध्वनित होता है कि यह लोक (संसार के लोग) जड़ से

नहीं होता। इस प्रकार जहाँ अत्यन्त असम्भाव्यमान के विशेषणों से युक्त अप्रस्तुत अर्थ द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप करते हैं वहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कारकारी होगा ही।

१. 'भावव्रात' यह उदाहरण कुछ क्लिष्ट हो गया है। यह वस्तुध्वनि का उदाहरण है। यहाँ अभिधीयमान प्रस्तुत से अप्रस्तुत का आक्षेप है। जैसा कि अभिधीयमान प्रस्तुत है कि भावव्रात या चन्द्र, उद्यान आदि पदार्थसमूह को लोग 'जड़' कहा करते हैं और स्वयं को 'सहृदय' कहते हैं। उन्हें यह जब विदित नहीं कि ये पदार्थ संसार को अनेक प्रकार से बचाया करते हैं और इस प्रकार अत्यन्त वैदग्ध्यपूर्ण हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें 'जड़' कहना अपने को 'जड़' कहना हुआ। दूसरे अजड़ को 'जड़' कहना अजड़रूप जड़ को निन्दा नहीं, बल्कि स्तुति है। यह उक्त श्लोक का

ध्वन्यालोकः

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव। तदयमत्र सङ्क्षेपः—

जब कि केवल सारूप्यवश अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध है तब अभिधीयमान अप्रस्तुत सरूप का प्राधान्यतः विवक्षा न करने पर ध्वनि में ही अन्तर्भाव है। इतरथा (ऐसा न होने पर) एक प्रकार का अलङ्कार ही है। तो यह यहाँ संक्षेप है—

लोचनम्

पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते। तदाह—*यदा त्विति*। *इतरथा त्विति*। इतरथैव पुनरलंकारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्ग्यस्य कथंचिदपि प्राधान्य इति भावः। उद्देशे यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुवेशः सम्भावितः। तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—*तदयमत्रेति*। कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः। तत्र व्याजस्तुतिर्यथा—

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः॥

अधिक पापी है। तो कहते हैं—जबकि—। इतरथा—। भाव यह कि अन्यथा ही, किसी प्रकार व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने पर अलङ्कारान्तरत्व अर्थात् अलङ्कार-विशेषत्व होगा। नाम-निर्देश में जो 'आदि' ग्रहण किया है, समासोक्ति० के द्वन्द्व समास में उस कारण व्याजस्तुति प्रभृति अलङ्कार-वर्ग में भी सम्भाव्यमान व्यङ्ग्य का अनुवेश है। वहाँ, सबका साधारण उत्तर देने का उपक्रम करते हैं—तो यह यहाँ—। भाव यह कि अथवा कितना पद-पद पर लिखें! वहाँ, व्याजस्तुति, जैसे—

'दूसरे आदमी के घर की बातों की चर्चा से क्या फायदा, फिर भी मैं चुपचाप बैठने में असमर्थ हूँ, क्योंकि बड़बड़ाना दाक्षिणात्यों का स्वभाव है। हन्त! हे राजन् आपकी प्रिया कीर्ति घर-घर में, बाजारों में तथा मुहल्लों में, पानगोष्ठी में, पागल—जैसी घूमती रहती है!'

अप्रस्तुत अभिधीयमान है। इससे किसी महापुरुष का लोकोत्तर चरित प्रस्तुतरूप में प्रतीत हो रहा है। जैसे कोई वीतराग महापुरुष अपने विवेक के प्रकाश से अज्ञान के तिमिर को नष्ट कर देता है, फिर भी अपनी महानता को छिपाए रहता है। देखकर उसे लोग 'मूर्ख' कहा करते हैं और उसकी अवज्ञा करते हैं। यहाँ यह प्रस्तुत व्यंग्य अर्थ अप्रस्तुत वाच्य से निश्चय ही चमत्कारकारी है। क्योंकि अप्रस्तुत वाच्य अचेतन 'भावव्रात' को लेकर कहे जाने के कारण

लोचनम्

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते। यत्तूदाहृतं केनचित्—

आसीन्नाथ पितामही तव मही जाता ततोऽनन्तरं
माता सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले॥

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता ? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम् ? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥ इति।

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता। यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादिलक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।

यहाँ जो स्तुति रूप व्यङ्ग्य है उससे वाच्य ही उपस्कृत होता है। जो कि किसी ने उदाहरण दिया है—

'हे राजन, पहले पृथ्वी तुम्हारी पितामही हुई, इसके बाद तुम्हारी माता हुई, इस समय समुद्र की रशना वाली यह कुलोत्पत्ति के लिए तुम्हारी पत्नी है और जब सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब यह तुम्हारी अनिन्द्य पुत्रवधू (पतोहू) हो जायगी। क्या समग्र नीतियों के जानकार कुल में यह ठीक कहा जा सकता है ?'

यह (उदाहरण) हमें ग्राम्य लगता है, क्योंकि यह अत्यन्त असभ्य स्मृति को उत्पन्न करता है। और भी, इससे स्तुति ही क्या की ? 'तुम खान्दानी राजा हो' यह कितनी स्तुति है ! इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदय जनों की गोष्ठियों में निन्दित होने के कारण उपेक्षणीय ही है।

'जिसका विकार अप्रतिबन्ध (नियत) होता हुआ जिस हेतु से उस अभिप्राय को तथा उसके प्रतिबन्ध को व्यञ्जित करता है वह 'भाव' है।'

यहाँ भी वाच्य का प्राधान्य होने पर भावालङ्कारता है। जिस चित्तवृत्ति विशेष का सम्बन्धी वाग्व्यापार आदि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत होता हुआ उस चित्तवृत्ति विशेष रूप अभिप्राय को जिस हेतु से व्यञ्जित करता है वह हेतु अर्थात् यथेष्ट उपभोग्यत्वादि रूप अर्थ (मैं तुम्हारे यथेष्ट उपभोग के योग्य हूँ, कोई प्रतिबन्धक नहीं है, इस प्रकार का नायिका के मनोगत आदि अर्थ) 'भावालङ्कार' है। जैसे—

'इस घर में जो कि मैं अकेली अबला तथा तरुणी हूँ; घर के मालिक परदेस गये हैं।

गुणीभूत हो जाता है। इस प्रकार वाच्य के गुणभाव और व्यंग्य के प्राधान्यतः प्रतीत होने के कारण यहाँ वस्तुध्वनि है, न कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥

वाच्य मात्र का अनुगमन करने वाले व्यङ्ग्य का जहाँ अप्राधान्य है, वहाँ समासोक्ति आदि अलङ्कार स्पष्ट हैं। व्यङ्ग्य की सिर्फ प्रतिभा (आभास) हो अथवा वह वाच्य अर्थ का अनुगम करे अथवा जहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य प्रतीत नहीं होता

लोचनम्

कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारकारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु न काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना॥

यत्रेति काव्ये। *अलङ्कृतय* इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। *प्रतिभामात्र* इति। यत्रोपमादौ म्लिष्टार्थप्रतीतिः। *वाच्यार्थानुगम* इति। वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः। *न प्रतीयत* इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपि तु बलात्कल्प्यते, तथापि हृदये नानुप्रविशति। यथा—'देआ पसिअणिआतासु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु। तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्ये म्लिष्ट-

हे मूढ़ पथिक! किससे रहने के लिए स्थान मांगते हो, यह मेरी सास अन्धी भी है और बहरी भी।'

यहाँ व्यङ्ग्य एक-एक पदार्थ में उपस्कारकारी है, अतः वाच्य प्रधान है, व्यङ्ग्य के प्रधान होने पर भी कोई अलङ्कारता नहीं, यह निरूपण कर चुके हैं, बहुत कहना व्यर्थ है!

जहाँ—। काव्य में। अलङ्कार—। अलङ्कार होने से ही वाच्य का उपस्कारकत्व है। प्रतिभामात्र—। जहाँ उपमा आदि में मलिन (अस्पष्ट) अर्थ की प्रतीति है। वाच्य अर्थ का अनुगम—। अर्थात् वाच्य अर्थ के साथ अनुगम; बराबर प्राधान्य, अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति। प्रतीत नहीं होता है—। स्फुट रूप से प्राधान्य भासित नहीं होता है, अपितु बलात् कल्पित किया जाता है, तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं होता। जैसे 'प्रार्थये तावत् प्रसीद०' इस गाथा में दूसरों द्वारा की गई व्याख्याओं में। अतः चार प्रकारों में व्यङ्ग्य के रहते हुए भी 'ध्वनि' का व्यवहार नहीं होता है, (१) व्यङ्ग्य के अप्राधान्य में, (२) व्यङ्ग्य की मलिन या अस्पष्ट प्रतीति होने पर, (३) वाच्य के साथ बराबर प्राधान्य होने पर और (४) अस्फुट प्राधान्य के

ध्वन्यालोकः

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः । इतश्च नान्तर्भावः; यतः काव्य-विशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि—अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते । न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति

है, (वहाँ) ध्वनि नहीं है । जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्य के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों उसी को संकर रहित ध्वनि का विषय मानना चाहिये ।

इसलिये ध्वनि का अन्यत्र अन्तर्भाव नहीं है । और इस कारण भी अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि ध्वनि को काव्य विशेष रूप अङ्गी कहा है । उसके अङ्ग—अलङ्कार, गुण और वृत्तियाँ-प्रतिपादन किये जायेंगे । न कि अवयव ही पृथग्भूत होकर अवयवी के रूप में प्रसिद्ध है । पृथग्भाव न होने पर भी उस (अलङ्कारादि) का उस (ध्वनि) का

लोचनम्

प्रतीतौ वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटे प्राधान्ये च । क तर्ह्यसावित्याह—*तत्परावेवेति* । सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः । सङ्करालङ्कारेणेति त्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात् । *इतश्चेति* । न केवलमन्योन्य-विरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वान्न तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः । *अवयव* इति । एकैक इत्यर्थः । तदाह—*पृथग्भूत* इति । अथ पृथग्भूतस्तथा मा भूत्, समुदाय-

होने पर । तब वह कहाँ होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं—तत्पर होकर ही— । सङ्कर से अर्थात् (समासोक्ति आदि) अलङ्कार के अनुप्रवेश की सम्भावना से रहित । 'सङ्करालङ्कार' से यह व्याख्यान असत् है, क्योंकि दूसरे अलङ्कारों को उपलक्षण मानने पर व्याख्यान क्लिष्ट हो जायगा । और इस कारण भी— । अर्थात् न केवल अलङ्कारों का और ध्वनि का परस्पर विरुद्ध वाच्यवाचकभाव और व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के कारण तादात्म्य[1] (एकरूपता) नहीं, बल्कि स्वामी और भृत्य की भाँति अङ्गीरूप और अङ्गरूप के विरोध के कारण भी (तादात्म्य) नहीं है । अवयव— । अर्थात् एक-एक । इस लिए कहते हैं—पृथग्भूत[2]— । अगर उस प्रकार पृथग्भूत मत हो, समुदाय के

१. 'ध्वनि' सर्वथा अलङ्कारों से अतिरिक्त है । दोनों का तादात्म्य या एकरूपता किसी प्रकार सम्भव नहीं । इसीलिए वृत्तिग्रन्थ के परिकर श्लोक में ध्वनि के विषय को 'सङ्करोज्झित' कहा है । अर्थात् समासोक्ति आदि उक्त अलङ्कारों में ध्वनि के सङ्कर अर्थात् अनुप्रवेश की सम्भावना नहीं है । अलङ्कार वाच्यवाचकभाव पर आश्रित होते हैं और ध्वनि व्यंग्य-व्यञ्जकभाव पर आश्रित है, केवल यही कारण नहीं कि दोनों का तादात्म्य सम्भव नहीं, बल्कि स्वामी और भृत्य की तरह अङ्गिरूप और अङ्गरूप होने के कारण भी विरोध है अतः उन दोनों में तादात्म्य नहीं है । ध्वनि काव्यविशेष होने के कारण अङ्गी है और अलङ्कार, गुण तथा वृत्तियाँ उसके अङ्ग हैं ।

२. यहाँ अलङ्कार आदि को ध्वनि के अङ्ग या अवयव कहने पर यह शङ्का उठ खड़ी हुई कि

ध्वन्यालोकः

प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव। 'सूरिभिः कथित'

अङ्ग होना है, न कि अङ्गी ही होना। जहाँ कहीं भी अङ्गी होना है वहाँ भी ध्वनि के महाविषय होने के कारण उन (अलङ्कार आदि) में अन्तर्भाव नहीं है। 'सूरियों ने

लोचनम्

मध्यनिपतितस्तर्ह्यस्तु तथेत्याशङ्क्याह—*अपृथग्भावे त्विति*। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात्; तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलङ्काररूपं, प्रधानत्वादेव। तत्त्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—*न तु तत्त्वमेवेति*। नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिषेकं दत्त्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—*यत्रापि* वेति। न हि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इति 'कस्स वा ण' इत्यादि; तदाह—*न तन्निष्ठत्वमेवेति*।

बीच रहे, यह आशङ्का करके कहते हैं—पृथग्भाव न होने पर—। तब भी वह एक ही समुदाय नहीं है, अन्य समुदायियों का भी वहाँ अस्तित्व है। और समुदायियों के बीच में प्रतीयमान भी है, न कि वह अलङ्कार रूप है, क्योंकि वह प्रधान है। जो कि अलङ्कार रूप है वह अप्रधान होने के कारण ध्वनि नहीं है। इस लिए कहा—न कि अङ्गी ही होना—। किसी अलङ्कार ही को तुमने प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि' और 'आत्मा' कहा है, यह आशङ्का करके कहते हैं—जहाँ कहीं भी—। न कि यह ध्वनि समासोक्ति आदि अलङ्कार में कोई अन्यतम है जिसे उस प्रकार हमने किया है, क्योंकि समासोक्ति आदि के अभाव में भी उस (ध्वनि) का अस्तित्व है। समासोक्ति आदि अलङ्कार के स्वरूप के समान स्वरूप वाले अलङ्कार के अभाव में भी उसे (ध्वनि को) दिखाया है, 'अत्ता एत्थ०', 'कस्स वा ण०' इत्यादि। इस लिए

अवयव के अतिरिक्त जब कि कोई अवयवी नहीं प्राप्त होता तो क्यों नहीं यह स्वीकार किया जाय कि अवयवरूप अलङ्कार भी अवयवी ध्वनि है? इसका निराकरण करते हैं कि पृथक्-पृथक् रूप से अवयव किसी प्रकार अवयवी नहीं बन सकता, अर्थात् एक-एक अवयव को लेकर उसे अवयवी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस पर पुनः शङ्का होती है कि क्यों नहीं तब समुदायमध्यपतित अवयव को ही अवयवी कहते हैं? इसके निराकरण में लोचनकार का स्पष्टीकरण यह है कि समुदाय किसी प्रकार एक को नहीं कहते हैं, क्योंकि समुदायी में अनेक और भी समुदायियों का अस्तित्व होता है जैसे कि प्रस्तुत में ही प्रतीयमान भी एक समुदायी है, वह अपनी प्रधानता की स्थिति में 'ध्वनि' हो जाता है। वह अलङ्काररूप अप्रधान होने के कारण होता है। इस प्रकार न तो पृथक्-पृथक् रूप से अवयव को अवयवी कह सकते हैं और न समुदायरूप से। तात्पर्य यह कि 'ध्वनि' सर्वथा अङ्गी एवं प्रधान तत्त्व है और अलङ्कार आदि अङ्ग या अप्रधान हैं। इसी अंश में अलङ्कार आदि ध्वनि के अङ्ग हैं कि वह काव्यविशेष है और अलङ्कार आदि उसमें रहा करते हैं, न कि वह ध्वनि स्वयं अलङ्कार आदि में अन्तर्भुक्त हो सकता है।

ध्वन्यालोकः

इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

कहा है' अर्थात् यह उक्ति विद्वानों के मतानुसार (विद्वदुपज्ञा) है, न कि जिस किसी प्रकार चल पड़ी है, कि इसे प्रतिपादन कर रहे हैं। मुख्य विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि समस्त विद्याओं का मूल व्याकरण है। वे (वैयाकरण विद्वान्) श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' यह व्यवहार करते हैं।

लोचनम्

विद्वदुपज्ञेति। विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः। तेन 'उपज्ञोपक्रमम्' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्। *श्रूयमाणेष्विति*। श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति; ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् भर्तृहरिः—

कहा—उसमें अन्तर्भाव नहीं है—। विद्वदुपज्ञा—। विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् सबसे पहले उपक्रम (आरम्भ) है जिस उक्ति का—यह बहुव्रीहि है। इस लिए 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' (पा. सू. २. ४. २१) इसके अनुसार तत्पुरुष में होने वाले नपुंसकत्व का कोई अवसर नहीं। श्रूयमाण[1]—। शष्कुली सदृश श्रोत्रदेश के आकाश में सन्तानक्रम से (वीचीतरङ्ग की भाँति) आकर अन्त वाले शब्द सुने जाते हैं, इस प्रक्रिया में शब्द से उत्पन्न शब्द 'श्रूयमाण' होते हैं, यह कहा गया है। उन (श्रूयमाण अन्त्य शब्दज शब्दों) का घण्टानुरणन का सादृश्य है। वे 'ध्वनि' शब्द से कहे गये हैं। जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

१. प्रस्तुत में विषय के स्पष्टीकरण के लिए संक्षेप में 'स्फोट' के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। स्फोटवाद भारतीय वैयाकरणों की निजी कल्पना है। अलङ्कारशास्त्र में 'ध्वनि' की कल्पना का आधार व्याकरणों का स्फोट-सिद्धान्त ही है। 'स्फोट' का अर्थ है जिससे अर्थ का स्फुटन होता हो (स्फुटत्यस्मादर्थं इति स्फोटः)। इस 'स्फोट' को भी समझने के पूर्व हमें शब्द-श्रवण की प्रक्रिया से परिचित होना चाहिए। शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—संयोग से, वियोग से एवं शब्द से। इस प्रकार उत्पत्ति के अनुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—संयोगज, वियोगज (या विभागज) और शब्दज। किसी वस्तु का किसी वस्तु के साथ जोर से संयोग होने पर भी शब्द उत्पन्न होता है और कागज या किसी वस्तु के विभाग में भी शब्द उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जिह्वा आदि के संयोग-वियोग द्वारा भी शब्द की उत्पत्ति होती है। मूलतः उत्पन्न शब्द 'स्फोट' कहलाता है। किन्तु जो शब्द उत्पन्न होता है वही श्रोता को नहीं सुन पड़ता है। जैसे कुछ दूरी पर बैठ कर जो कोई बोलता है वही शब्द श्रोता को सुनाई नहीं देता बल्कि वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है और अपने नष्ट होने के पूर्व दूसरे शब्द को उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार दूसरा शब्द तीसरे शब्द को, तीसरा चौथे को एवं चौथा पांचवे को आदि। इसको 'वीचीसन्तान-न्याय' कहते हैं। अर्थात् जैसे सरोवर के स्थिर जल में ठिकरा डालने पर एक वर्तुलाकार छोटा

लोचनम्

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥ इति।

एवं घण्टादिनिर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् स एव—

'करणों अर्थात् जिह्वादि स्थानों के साथ संयोग और वियोग के कारण जो उत्पन्न होता है वह 'स्फोट' है और (श्रूयमाण) शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्यों (उत्पत्ति वादियों) ने 'ध्वनि' कहा है।'

इस प्रकार घण्टा आदि की आवाज के समान अनुरणनरूपोपलक्षित व्यंग्य अर्थ 'ध्वनि' के नाम से व्यवहृत है। तथा श्रूयमाण जो 'नाद' शब्दवाच्य एवं अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को व्यञ्जित करनेवाले जो वर्ण हैं वे 'ध्वनि' शब्द से कहे गए हैं। जैसा कि उन्हीं भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

सा घेरा पैदा हो जाता है, वही एक से दूसरी तरंग को उत्पन्न करते हुए समस्त सरोवर में व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार शब्द से उत्पन्न शब्द घण्टानुरणन रूप होने के कारण 'ध्वनि' कहलाते हैं। भर्तृहरि की यह कारिका इसी अभिप्राय को व्यक्त करती है—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥

यह भी कल्पना है कि 'स्फोट' एक नित्य शब्द के रूप में हमारे मन में विद्यमान रहता है। हम जिस अनित्य शब्द को सुनते हैं उससे उस नित्य 'स्फोट' रूप शब्द का उद्बोध होता है और उसके द्वारा हम अर्थ का ज्ञान करते हैं। वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट आदि भेद भी हैं।

घण्टा के एक बार बज जाने के बाद उसमें जिस प्रकार ध्वनि रूप अनुरणन होता है उसी प्रकार अनुरणन रूप से उपलक्षित व्यङ्ग्य अर्थ भी अलङ्कार-शास्त्र में 'ध्वनि' कहा गया है। इस प्रकार वैयाकरणों के 'ध्वनि' को अनुरणनरूपता के आधार पर आलङ्कारिकों ने अपने अनुरूप बना लिया।

केवल व्यङ्ग्य अर्थ ही 'ध्वनि' नहीं बल्कि 'व्यञ्जक' भी 'ध्वनि' कहा जाता है। इस प्रकार व्यञ्जक होने के कारण वाचक शब्द और वाच्य अर्थ भी 'ध्वनि' पद से वाच्य होते हैं। इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए वैयाकरणों के 'नाद' को लिया है। 'नाद' श्रूयमाण वर्णों को कहते हैं। जिस क्रम से वर्ण श्रूयमाण होते हैं उसी क्रम से 'स्फोट' रूप नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है। जैसे हमने 'घट' शब्द को सुना तो 'घ्' के पश्चात् 'अ' तब 'ट्' और तब 'अ' की हमें प्रतीति होती है। पूर्व वर्ण उत्पन्न होकर अपना संस्कार उत्पन्न करके अग्रिम वर्ण के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। नैयायिक लोग इसे वर्णों का नाश मानते हैं, किन्तु वैयाकरण लोग इसे 'तिरोभाव' कहते हैं। इस प्रकार 'स्फोट' को पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से, जो हमें अन्त्य वर्ण की बुद्धि होती है उसके द्वारा ग्रहण करते हैं। इस प्रकार 'स्फोट' रूप नित्य शब्द के ये वर्ण अभिव्यञ्जक होने के कारण 'ध्वनि' कहे जाते हैं। भर्तृहरि ने इसे इन शब्दों में कहा है—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥

लोचनम्

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ इति ।

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिमाणेष्वपि सत्सु । यथोक्तम्—

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ इति ।

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापाराद्भ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति ।

'अनिर्वचनीय एवं व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से उस शब्द में, जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है ।'

इसलिए व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी 'ध्वनि' शब्द से कहा है । और भी, जिस रूप से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होते हैं उस परिमाण के वर्णों में भी ('ध्वनि' शब्द से व्यवहार होता है) । जैसा कि कहा है—

मति थोड़े भी प्रयत्न से उच्चरित शब्द को नहीं ग्रहण करती है, यदि वा सकल वर्ण को स्फुटरूप से ग्रहण कर लेती है ।

उतने ही अंश में श्रूयमाण वर्णों में वक्ता का जो अन्य द्रुत, विलम्बित आदि वृत्ति भेद रूप प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से अधिक है वह 'ध्वनि' कहा गया है । जो कि उन्होंने ही कहा है—

'(स्फोटरूप) शब्द की अभिव्यक्ति के पहले जो वैकृत शब्द (द्रुत आदि) वृत्तियों के भेद में 'ध्वनि' मालूम पड़ते हैं, स्फोट उनसे भिन्न नहीं होता ।'

अर्थात् अनिर्वचनीय, व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल, प्रत्ययों से उस शब्द में, जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है । मतलब यह कि जो शब्द श्रूयमाण वर्ण रूप ध्वनियों से ग्रहण के अनुकूल, अनिर्वचनीय प्रत्ययों द्वारा प्रकाशित होता है उसे ही स्फोट' का स्वरूप अवधारण किया जाता है । इस प्रकार जब वैयाकरणों ने 'व्यञ्जक' को 'ध्वनि' माना तब आलङ्कारिकों ने उसी समानता पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी अपने यहाँ 'ध्वनि' कहा । यहाँ तक 'ध्वनि' को लेकर व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जक अर्थ को 'ध्वनि' कहने की प्रवृत्ति की चर्चा हुई ।

अब व्यञ्जकत्व रूप व्यापार को 'ध्वनि' कहने की प्रवृत्ति किस आधार पर है, इसे स्पष्ट करते हैं । वैयाकरणों के अनुसार जिन वर्णों का हम उच्चारण करते हैं उसकी अभिव्यक्ति में द्रुत एवं विलम्बित आदि प्रकारों से अन्तर पड़ जाता है । अर्थात् हम कभी धीरे धीरे और कभी शीघ्र उच्चारण करते हैं । इस प्रकार शब्द में अन्तर होते हुए भी अर्थ में अन्तर नहीं होता । वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप माने हैं एक प्राकृत दूसरा वैकृत । हम जो उच्चारण करते हैं वे वैकृत शब्द हैं और प्राकृत शब्द उन वैकृत शब्दों के उच्चारण के बाद उत्पन्न होने वाला नित्य स्फोट रूप शब्द है । द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियाँ या स्वरभेद वैकृत शब्दों में हुआ करते हैं । इस प्रकार वक्ता को

ध्वन्यालोकः

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-

उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले, काव्य-तत्त्व के द्रष्टा सूरियों ने

लोचनम्

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। *वाच्यवाचकसंमिश्र इति*। वाच्यवाचकसहितः संमिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इतिवत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमि-

हमने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य, लक्षणारूप शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार (व्यंग्यादि) चारों ध्वनि हैं। और उनके योग से समस्त काव्य भी 'ध्वनि' है। इस कारण भेदव्यपदेश और अभेदव्यपदेश भी अयुक्त नहीं है।[1] वाच्यवाचकसम्मिश्र—।[2] 'वाच्य-वाचक सहित सम्मिश्र' यह मध्यमपदलोपी समास है। 'गौ, अश्व, पुरुष, पशु' की भाँति यहाँ 'चकार' (अर्थात् 'और') का प्रयोग न होने पर भी समुच्चय (सङ्कलन) है। इसलिए वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है, दोनों का व्यञ्जकत्व 'ध्वनन करता है' ('ध्वनती'ति) इस व्युत्पत्ति के

श्रूयमाण वर्णों के उच्चारण रूप प्रसिद्ध व्यापार के अतिरिक्त द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तिभेद रूप अधिक व्यापार करना पड़ता है। इस अतिरिक्त व्यापार को भी वैयाकरणों ने 'ध्वनि' माना है। इसी आधार पर आलङ्कारिकों ने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा रूप शब्द व्यापारों के अतिरिक्त व्यञ्जकत्व व्यापार को भी 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जकत्व व्यापार, इन चारों को 'ध्वनि' कहने के साथ ही आलङ्कारिकों ने इन चारों के समुदाय-रूप अर्थात् व्यङ्ग्य-वाच्य-वाचक-व्यापार समुदाय रूप काव्य को भी 'ध्वनि' की संज्ञा दी है।

१. प्रायः ध्वन्यालोक के सामान्य अध्येता को कहीं पर 'ध्वनि काव्य का आत्मा है' (काव्यस्यात्मा ध्वनिः) इस प्रकार के ध्वनि के साथ काव्य के भेद या व्यतिरेक के व्यपदेश को और कहीं पर 'वह काव्य-विशेष ध्वनि है' इस प्रकार के अभेद या अव्यतिरेक के व्यपदेश को देख कर भ्रम हो जाता है। कभी ध्वनि काव्य की आत्मा है तो कभी स्वयं काव्य ही है ? लोचनकार के उपर्युक्त पञ्चविध ध्वनि को देखकर इस प्रकार का ग्रन्थ में अभेद और भेद का व्यवहार ठीक लग जाता है। जहाँ पर ध्वनि को काव्य का आत्मा कहा गया है वहाँ समझना चाहिए कि 'ध्वनि' से 'व्यङ्ग्य' अर्थ अभिप्रेत है और जहाँ स्वयं ध्वनि को काव्य कहा गया है वहाँ समझना चाहिए कि यहाँ वाच्य, वाचक, व्यञ्जना और व्यङ्ग्य के समुदाय रूप काव्य यहाँ 'ध्वनि' से अभिप्रेत है।

२. ऊपर निर्दिष्ट पाँच प्रकार के ध्वनि को संक्षेप में वृत्तिकार ने 'वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यः' इन शब्दों से निर्देश किया है। 'ध्वनि' शब्द की विभिन्न व्युत्पत्ति से सभी को संगृहीत करके लोचनकार ने स्पष्टीकरण किया है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' इससे वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनों को संगृहीत किया है। 'ध्वन्यते इति ध्वनिः से व्यङ्ग्य अर्थ संगृहीत है एवं 'ध्वननं ध्वनिः' से व्यञ्जना रूप शब्द का व्यापार गृहीत है, जिसे वृत्तिकार ने यहाँ 'शब्दात्मा' कहा है।

ध्वन्यालोकः

वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः । न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसंकलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकारविशेषमात्रप्रतिपादनेन

वाच्य, वाचक, सम्मिश्र (अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ) शब्द रूप (व्यञ्जना व्यापार) और 'काव्य' कहे जाने वाले को (अर्थात् काव्य को) व्यञ्जकत्व की समानता के कारण 'ध्वनि' कहा है । वक्ष्यमाण भेद-प्रभेद के सङ्कलन से महाविषय (व्यापक) ध्वनि का जो प्रकाशन है वह अप्रसिद्ध किसी अलङ्कार मात्र के सदृश नहीं

लोचनम्

श्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात् । अतएव साधारणहेतुमाह—*व्यञ्जकत्वसाम्यादिति* । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः । यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यादि, तत्परिहरति—*न चैवं विधस्येति* । वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा–मुख्ये द्वे रूपे । तद्भेदा यथा–अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तरभेदाः । *महाविषयस्येति*—अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः । विशेषग्रहणेनाव्यापकत्वमाह् । मात्रशब्देनाङ्गित्वाभावम् । तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा

अनुसार है । विभावानुभाव के संवलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यंग्य भी 'ध्वनि' है । शब्दन शब्द, अर्थात् शब्द का व्यापार, वह अभिधादिरूप नहीं, बल्कि आत्मभूत है, वह भी 'ध्वननं' (व्युत्पत्ति के अनुसार) 'ध्वनि' है । और 'काव्य' शब्द से व्यपदेश्य जो अर्थ है वह भी 'ध्वनि' है, क्योंकि वह कथित प्रकार चार प्रकार के ध्वनियों से युक्त है । अतएव साधारण हेतु कहते हैं—व्यञ्जकत्व की समानता के कारण—। अर्थात् व्यंग्यव्यञ्जकभाव सब पक्षों में सामान्यरूप या साधारण है । जो कि यह कहा है—'वाणी के विकल्पों (भेदों) के आनन्त्य के कारण'—इत्यादि, उसका परिहार करते हैं—इस प्रकार के—। वक्ष्यमाण प्रभेद, जैसे—मुख्य दो रूप । उनके भेद, जैसे—'अविवक्षितवाच्य' के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य; 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य । उनके भी अवान्तर भेद । महाविषय—। अर्थात् पूरे लक्ष्यों में व्याप्त रहनेवाला । 'विशेष' ('किसी' अलङ्कार) इस कथन से (उसका) अव्यापकत्व कहा है । 'मात्र' शब्द से अङ्गित्व का अभाव कहा है । उस ध्वनि-स्वरूप में भावित अर्थात् प्रणिहित चित्त है जिनका,

ध्वन्यालोकः

तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

है, ऐसी स्थिति में उस (ध्वनि) के प्रति भावित चित्त वालों का संरम्भ ठीक ही है। उन लोगों के प्रति ईर्ष्या से अपनी बुद्धि का कालुष्य आविष्कृत करना नहीं चाहिये। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण किया।

ध्वनि है। वह विवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य भेद से सामान्यतः दो प्रकार का है।

लोचनम्

चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकारणं चेतो येषामिति। *अभाववादिन इति*। अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः।

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह—*अस्तीति*। उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्ये अप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्द्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति—*स चेति*। पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। वाच्येऽर्थे

अथवा उस चमत्काररूप से भावित अर्थात् अधिवासित चित्त है जिनका, अतएव मुकुलित-लोचन होना आदि विकारों का कारण चित्त है जिनका। अभाववादी—। अर्थात् अवान्तर तीन प्रकारों से भिन्न भी।

उनके निराकरण का फल कहते हैं—ध्वनि है—। उदाहरण देने पर भाक्तत्व की शङ्का और परिहार भी सुकर हो जायगा, इस अभिप्राय से उदाहरण देने के अवसर के लिए 'भाक्तत्व' और अलक्षणीयत्व के पहले परिहरण योग्य होने पर भी उनका प्रतिसमाधान न करके आगे के 'उद्योत' में अनुवाद (द्विरुक्ति) के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेदों[1] का निरूपण करते हैं—वह—। 'ध्वनि' शब्द से पञ्चविध अर्थ में 'जिससे',

१. ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण करके आचार्य ने 'ध्वनि है' यह कहकर ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया तब भाक्तत्ववादियों और अलक्षणीयतावादियों के निराकरण का प्रसंग क्रमप्राप्त है। किन्तु वृत्तिग्रन्थ में यहाँ ध्वनि के दो प्रभेदों की चर्चा करते हैं तथा उनके उदाहरण भी देते हैं, इसका क्या अभिप्राय है? इस प्रश्न के समाधान में लोचनकार कहते हैं कि 'भाक्तवाद' का आधार 'लक्षणा व्यापार' है और ध्वनि के अविवक्षितवाच्यरूप प्रभेद में लक्षणा का परिचय जब प्राप्त हो जायगा तब आगे ध्वनि के भाक्तत्व की शङ्का भी सुविधा से बन जायगी और उसका परिहार भी सुविधा से हो जायगा। दूसरे यह भी कि आगे द्वितीय उद्योत में कारिका ग्रन्थ में ध्वनि के

लोचनम्

तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः। एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि। यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति। विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति। तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति। कदाचिदुपपद्यमान इति कृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? *सामान्येनेति*। वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुभाभ्यामेवाभ्यां

'जहाँ', 'जिससे', जिसका', 'जिसमें' इस प्रकार बहुव्रीहि समास के अर्थ के आधार से जहाँ जो उचित लगे उसका सामानाधिकरण्य[1] बना लेना चाहिए। वाच्य अर्थ में ध्वनि का प्रयोग होगा तव 'वाच्य' शब्द से 'स्वात्मा' (कहा जायगा), इस प्रकार अविवक्षित या अप्रधानीकृत है स्वात्मा जिससे, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में भी। अथवा कर्मधारय-समास से अर्थ के पक्ष में 'अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्च' यह होगा। और 'विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्च' होगा। वहाँ अर्थ कभी अनुपपद्यमानत्व आदि निमित्त से अविवक्षित होता है, कभी उपपद्यमान करके विवक्षित होता है, किन्तु व्यंग्य-पर्यन्त प्रतीति को अपने सौभाग्य की महिमा से उत्पन्न करता है। अतएव यहाँ अर्थ प्राधान्यतः व्यञ्जक है, और पहले में शब्द।

शङ्का होती है कि 'विवक्षा' और 'अन्यपर' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। तव प्रश्न यह होगा कि 'अन्यपर' रूप से ही विवक्षा करने पर कौन-सा विरोध होगा? (वस्तुतः कोई-कोई विरोध नहीं)। सामान्यरूप से—। भाव यह कि वस्तु, अलङ्कार और रस

इन दो भेदों का प्रतिपादन न करके उनका अवान्तर भेद आरम्भ कर दिया है। ऐसा करने से कारिकाकार का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि पहले जो ध्वनि के अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य भेद कर चुके हैं उनके अब अवान्तर प्रभेद के प्रतिपादनार्थ कहते हैं। इस प्रकार द्वितीयोद्योत का अनुवाद उपपन्न करने के उद्देश्य से भी यहाँ स्वयं वृत्तिकार कारिकाकार की जगह पर स्थित होकर ध्वनि के भेदों का पहले ही प्रतिपादन कर देते हैं।

१. पीछे 'ध्वनि' शब्द के पाँच अर्थों का निर्देश कर चुके हैं। प्रस्तुत में 'अविवक्षितवाच्य' आदि के द्वारा 'ध्वनि' शब्द के किस अर्थ को लेकर कहा गया है इसके समाधान में लोचनकार 'बहुव्रीहिसमास' के आश्रयण का उपाय निर्देश करते हैं। इस प्रकार 'ध्वनि' शब्द के जिस अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य बैठ जाय उससे बना लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'अविवक्षितः वाच्यो यस्य' इस बहुव्रीहि समास के द्वारा 'ध्वनि' के 'शब्द' रूप अर्थ के अनुसार यह भेद बन जाता है। इसी प्रकार अन्य अर्थों में समझ लेना चाहिए। 'बहुव्रीहि' में अन्य पदार्थ प्रधान होता है, ऐसी स्थिति में ध्वनि के अर्थ व्यङ्ग्य, व्यञ्जन और काव्य में तो बहुव्रीहि बन जाती है किन्तु, 'वाच्य' रूप अर्थ में नहीं बनती है क्योंकि यह अन्य पदार्थ नहीं वल्कि समास की कुक्षि में स्थित है। उसके समाधान में लोचनकार ने 'वाच्य' का अर्थ 'स्वात्मा' किया है, और समास किया है अविवक्षितः स्वात्मा येन (वाच्येन) ऐसा समास किया है।

ध्वन्यालोकः

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

उनमें प्रथम का उदाहरण—

तीन प्रकार के लोग सुवर्णपुष्पा पृथ्वी को चयन करते हैं, एक तो शूर, दूसरा विद्वान् और तीसरा जो सेवा करना जानता है।

लोचनम्

सङ्गृहीत इति भावः। ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम्? उच्यते—अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्य-लक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्राय-रूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जीवितम्।

सुवर्णपुष्पामिति। सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा, एतच्च वाक्यमेवा-सम्भवत्स्वार्थमिति कृत्वाऽविवक्षितवाच्यम्। तत एव पदार्थमभिधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन समुपहत्य सादृश्यात्सुलभसमृद्धिसम्भार-

रूप से तीन भेदों वाला भी यह ध्वनि इन्हीं दोनों से संगृहीत हो जाता है। शङ्का है कि 'ध्वनि' नाम के पश्चात् इस नाम के रखने का लाभ क्या है? कहते हैं—इन दोनों नामों से ध्वननरूप व्यापार में पूर्वप्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य, लक्षणारूप तीनों व्यापारों से अवगत अर्थ की प्रतीति का और प्रतिपत्ता या ज्ञाता में रहनेवाली प्रयोक्ता के अभिप्रायरूप विवक्षा का सहकारित्व कहा है, इस प्रकार दोनों नामों से ध्वनि का स्वरूप ही प्रोज्जीवित[1] है।

सुवर्णपुष्पा—। 'सुवर्णों को पुष्पित करती है, अतः 'सुवर्णपुष्पा'[2] यह वाक्य ही ऐसा है जिसका स्वार्थ सम्भव नहीं हो रहा है, इस कारण (यह वाक्य) 'अविवक्षित-वाच्य' है। उसी से पदार्थ का अभिधान करके और तात्पर्य-शक्ति से अन्वय को ज्ञात कराके बाधक के कारण उस अन्वय का उपहनन करके सादृश्य के बल से सुलभ

१. अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन दोनों नामों के निर्देश का अभिप्राय यह है कि केवल व्यञ्जना व्यापार से 'ध्वनि' की पूर्णता सिद्ध नहीं होती है बल्कि सहायक या सहकारी रूप से प्रतिपत्ता को अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा के अर्थों की एवं प्रयोक्ता के विवक्षा की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए दोनों नाम आचार्य ने रखे हैं। अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूल होता है, अतः लक्षणा की सहकारिता के लिए एवं विवक्षितान्यपरवाच्य में प्रयोक्ता के विवक्षा की सहकारिता को व्यक्त किया है। क्योंकि इनके बिना केवल व्यञ्जना व्यापार से प्रतिपत्ता प्रतिपिपादिपित अर्थ का ज्ञान नहीं कर सकता। इसी उद्देश्य से लोचनकार लिखते हैं कि वस्तुतः यहाँ इन नामों से ध्वनि का स्वरूप प्रोज्जीवित हो गया है।

२. लोचनकार ने 'सुवर्णपुष्पा' का अर्थ 'सुवर्णानि पुष्प्यति' के अनुसार 'सुवर्णों को पुष्पित

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥१३॥

दूसरे का भी—

हे तरुणि, यह सुग्गे का बच्चा किस पर्वत पर, कितने दिनों तक कौन सा तप किया है जो तेरे अधर के समान लाल वर्ण वाले विम्बफल को काट रहा है ॥ १३ ॥

लोचनम्

भाजनतां लक्षयति । तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपयद् ध्वन्यत इति । शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः ।

शिखरिणीति । न हि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमां सिद्धिं विदध्युः । दिव्यकल्पसहस्रादिश्चात्र परिमितः कालः । न चैवंविधोत्तमफलजन-

समृद्धि-सम्भार-भाजनता को लक्षणा द्वारा बोधन कराता है । उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य (विद्वान्) एवं सेवकों का जों प्राशस्त्य है, वह शब्द से वाच्य न होने के कारण गोप्यमान होकर नायिका के कुचकलशयुगल की भाँति चारुत्व (महार्घता) को प्राप्त करता हुआ ध्वनित होता है । यहाँ शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक है और अर्थ शब्द के सहकारी होने के कारण व्यञ्जक है, इस प्रकार (अभिधा आदि) चारो व्यापार हो जाते हैं ।

पर्वत पर—। जहाँ विना किसी विघ्न के उत्तम सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ऐसे श्रीपर्वत आदि[१] भी इस सिद्धि को नहीं दे सकेंगे । (इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने के लिए) दिव्य कल्प-सहस्र आदि तो वहुत परिमित काल है । और इस काल के

करनेवाली' किया है । 'दिव्याञ्जना' टिप्पणी में मेरे गुरुजी का कहना है कि यह केवल आचार्य ने अर्थ का प्रदर्शनमात्र किया है, विग्रह नहीं । अन्यथा यहाँ उनके व्याख्यान के आधार पर 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय तथा 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि से ङीप् होकर 'सुवर्णपुष्पी' रूप सिद्ध होगा । इसलिए 'सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः' यह विग्रह संगत होगा ।

अभिधा से पदार्थ-ज्ञान के पश्चात् तात्पर्य-शक्ति से अन्वय-बोध होता है । फिर भी यहाँ मुख्यार्थ के वाध को स्पष्ट करने के लिए लोचनकार का ही ढंग ठीक लगता है । 'पृथ्वी' कोई ऐसी लता नहीं है जो सुवर्णों के फूल खिलाती है' यह इस प्रकार मुख्यार्थ का वाध होता है तत्पश्चात् सादृश्य के बल से शूर, कृतविद्य और सेवक, ये तीनों की सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनता लक्षित होती है, अर्थात् जो लोग शूर, कृतविद्य एवं सेवक होते हैं उन्हें महती समृद्धि सुलभ हो जाती है यह लक्ष्यार्थ है और लक्षणा के प्रयोजन के रूप में तीनों का प्राशस्त्य प्रतीत होता है ।

१. 'श्रीपर्वत' यह दक्षिण देश का प्रसिद्ध पर्वत है । प्राचीन काल में, विशेषकर जब भारत में तान्त्रिक साधना का प्रचार था, यह पर्वत उसका महान् केन्द्र था । बौद्धों के वज्रयान का प्रचलन

लोचनम्

कत्वेन पञ्चाग्निप्रभृत्यपि तपः श्रुतम्। तवेति भिन्नं पदम्। समासेन विगलिततया प्रतीयेत, तव दशतीत्यभिप्रायेण। तेन यदाहुः—'वृत्तानुरोधात्त्वदधरपाटलमिति न कृतम्' इति, तदसदेव; दशतीत्यास्वादयति अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदरिकवत्परं भुङ्क्ते; अपि तु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्राप्तिवदेव रसज्ञताप्यस्य तपःप्रभावादेवेति। शुकशावक इति तारुण्याद्युचितकाललाभोऽपि तपस एवेति। अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्वाभिप्रायख्यापनवैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकविभावोद्दीपनं व्यङ्ग्यम्।

अत्र च त्रय एव व्यापाराः—अभिधा तात्पर्यं ध्वननं चेति। मुख्यार्थबाधा-

उत्तम फल के जनक के रूप में पञ्चाग्नि प्रभृति तप को भी नहीं सुना है। 'तुम्हारा' यह पद भिन्न[1] (असमस्त) है। समास से विगलित (साधारण) रूप में प्रतीत होगा, अतः 'तुम्हारा दशन करता है (काटता है)' इस अभिप्राय से (युष्मदर्थ को असमस्त या भिन्न करके रखा)। अतः, जो कि कहते हैं—'छन्द के अनुरोध से 'त्वदधरपाटलम्' ऐसा नहीं किया है, वह तो ठीक ही नहीं; दशन करता है (काटता है) अर्थात् अविच्छिन्न रूप से आस्वादन कर रहा है, न कि पेटू आदमी की तरह पूरा खा जाता है अपि तु रसज्ञ है, जिस प्रकार उस (अधर) की प्राप्ति तपस्या के प्रभाव से हुई उसी प्रकार उसकी रसज्ञता भी तपःप्रभाव से ही है। 'शुकशावक' की ही स्थिति में उचित काल का लाभ भी तप के कारण ही है। यहाँ अनुरागी का अपने प्रच्छन्न अभिप्राय के ख्यापन के वैदग्ध्य से चाटुरचना द्वारा विभाव (तरुणी रूप आलम्बन विभाव) का उद्दीपन व्यङ्ग्य है।

यहाँ तीन व्यापार हैं— अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन। क्योंकि मुख्यार्थबाध आदि का

यहीं से हुआ था। प्राचीन साहित्य में इस पर्वत के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि वहाँ पर जाकर तप करने से अलौकिक सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

१. प्रस्तुत पद्य में 'तव अधरपाटलं दशति' पर ही विशेष रूप से विचार किया गया है। यहाँ लोचनकार ने 'तव' के प्रयोग को विशेष अर्थ का व्यञ्जक माना है। जिस नायिका से यह बात कही जा रही है उसके सम्बन्ध को 'अधर' पदार्थ के साथ बोधन वक्ता का अभीष्ट है। इसी कारण 'तव' को 'अधरपाटलम्' से यह भिन्न या समासरहित रखा है। समास कर देने पर नायिका के सम्बन्ध का बोध नहीं होता, बल्कि साधारणरूप से उसके अधरपाटल को शुकशावक काटता है यह अर्थ प्रतीत होता। इस प्रकार अविमृष्टविधेयांश दोष का यहाँ अभाव है। 'तव' इस असमस्त पद से नायिका के सम्बन्ध के प्रतीत होने से श्लोक के अर्थ में एक अद्भुत विशेषता झलकने लगती है तब मतलब यह हो जाता है कि तेरा अधर तेरे कारण और भी स्वादु हो गया है अतः उसके समान यह बिम्बफल शुकशावक और भी मस्ती से काट रहा है। ऐसा नहीं कि पेटू आदमी की तरह रसास्वादन का मजा लिए बिना काट-काट कर खाये जा रहा है। इससे शुक-शावक की रसज्ञता भी व्यञ्जित हो रही है। किसी ने 'त्वदधरपाटलम्' इस समस्तरूप से न कहने का कारण द्रुतविलम्बित छन्द का अनुरोध बताया था, पर यह पक्ष ठीक नहीं।

इस पद्य से किसी कामुक नायक का नायिका के प्रति अभिलाष व्यङ्ग्य हो रहा है, मैं भी तेरे अधर को दशन करता।

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

जो कि 'भक्ति ध्वनि है' यह कहा है उसका प्रतिसमाधान करते हैं—

लोचनम्

द्यभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात्। यदि वाऽऽकस्मिक-विशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तत्तुर्यकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि। इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती। वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यप्रतिपत्तेः केवलं लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्ये तु लक्षणासमुन्मेषमात्रमपि नास्ति, असंलक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः ॥ १३ ॥

अत एवोभयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्य दूषयति। अयं भावः—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम्? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम्? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुप-लक्षणम्? तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—

अभाव होने से बीच की कक्ष्या में तीसरी लक्षणा वृत्ति यहाँ नहीं है। अथवा आकस्मिक (असम्भावित) एवं विशिष्ट (शुक द्वारा तप करने के स्थान को लेकर) प्रश्नार्थ की उपपत्ति न बनने के कारण मुख्यार्थबाध के हो जाने पर सादृश्य से बीच में लक्षणा हो सकती है। उस (लक्षणा का) प्रयोजन ध्वन्यमान ही है, वह (ध्वन्यमान प्रयोजन) चौथी कक्ष्या में रहने वाला है। (अगर दोनों उदाहरणों में भेद करें तो) पहले उदाहरण में केवल लक्षणा ही प्रधान होकर ध्वनन व्यापार में सहकारिणी है, और यहाँ अभिधा या तात्पर्य ये दोनों शक्तियाँ (ध्वनन व्यापार में) सहकारिणी हैं। क्योंकि वाक्यार्थ के सौन्दर्य से ही व्यंग्य की जब प्रतीति हो जाती है, ऐसी स्थिति में केवल लेशरूप से यहाँ लक्षणा व्यापार का उपयोग भी है ऐसा कहा गया। 'असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य' (जहाँ व्यंग्य के बोध का क्रम संलक्षित नहीं होता) में लक्षणा का समुन्मेष मात्र भी, क्रम के संलक्ष्य न होने के कारण ही, नहीं है, यह कहेंगे। इस प्रकार दूसरे भी भेद में चार ही व्यापार हैं ॥ १३ ॥

इसीलिए दोनों के उदाहरणों के बाद ही 'भाक्तमाहुः' इसका अनुवाद करके दोष देते हैं। भाव यह है—'भक्ति'[1] और ध्वनि' इस प्रकार क्या (इन्द्र, शक्र आदि) पर्याय की भाँति दोनों का ऐक्य या अभेद है? अथवा पृथिवी के 'पृथिवीत्व' की भाँति अतिरिक्त के व्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण, लक्षण है? या कौए की भाँति देवदत्त के गृह का सम्भवमात्र से, उपलक्षण है? उनमें प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं—

१. 'भक्ति' और 'ध्वनि' को तीन प्रकार से अभिन्न कह सकते हैं—पर्याय, लक्षण और उपलक्षण। अर्थात् भाक्तवादी क्या ध्वनि और भक्ति को पर्याय मानते हैं, जैसे घट और कलश शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, अथवा 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है, जैसे पृथिवीत्व पृथिवी का

ध्वन्यालोकः

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।

'यह ध्वनि रूप भेद के कारण 'भक्ति' के साथ एकत्व (अभेद) को धारण नहीं करता ।'

यह उक्त प्रकार का ध्वनि भिन्न रूप होने के कारण भक्ति से एकत्व (अर्थात् अभेद) प्राप्त नहीं करता । वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ का वाच्य और वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से प्रकाशन जहाँ व्यङ्ग्य के प्राधान्य में हो वह 'ध्वनि' है । 'भक्ति' तो उपचार मात्र है ।

लोचनम्

भक्त्या बिभर्तीति । उक्तप्रकार इति पञ्चस्वर्थेषु योऽयम्—शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च । रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह—*वाच्येति* । *तात्पर्येण* विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत् । *प्रकाशनं* द्योतनमित्यर्थः । *उपचारमात्रमिति* । उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः ।

यह ध्वनि—। 'उक्त प्रकार' को पाँचो अर्थों में लगाना चाहिए—शब्द में, अर्थ में, व्यापार में; व्यंग्य में और समुदाय (रूप काव्य) में । रूपभेद को दिखाने के लिए ध्वनि का स्वरूप कहते हैं—वाच्य से—। 'तात्पर्यरूप से' अर्थात् विश्राम लेने का स्थान होने के कारण प्रयोजनरूप होने से । 'प्रकाशन' अर्थात् द्योतन । उपचारमात्र—।[1] उपचार

व्यावर्तक धर्म रूप लक्षण है । अथवा 'उपलक्षण' अर्थात् सूचक मात्र है, जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' अर्थात् देवदत्त का घर कौवे वाला है, यह उसी समय बात कही गई है जब देवदत्त के घर पर कौआ बैठा है, इस प्रकार 'काकवत्त्व' देवदत्त के घर का सूचक मात्र होने से 'उपलक्षण' है । इन तीनों विकल्पों में 'भक्ति' ध्वनि का क्या है ? यह प्रश्न भाक्तवादी से स्वयं उद्भावित करते हैं । समाधान में, आचार्य ने तीनों विकल्पों का निराकरण कर दिया । प्रथम विकल्प 'पर्याय' के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि भक्ति और ध्वनि किसी प्रकार एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोनों में रूपभेद है अर्थात् ध्वनि का स्वरूप भिन्न है और भक्ति का स्वरूप भिन्न । फिर प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्ध में आचार्य ने भक्ति को ध्वनि का 'लक्षण' भी अमान्य ठहराया है, क्योंकि 'लक्षण' वही होता है जिसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोष नहीं होते । किन्तु 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण बनाने पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष उत्पन्न होंगे । इसे आगे स्वयं स्पष्ट करेंगे । फिर तीसरे विकल्प 'उपलक्षण' को आचार्य ने १९ वीं कारिका के पूर्वार्ध में स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि इससे यह नहीं कह सकते हैं कि गुणवृत्ति या भक्ति से ही ध्वनि लक्षित होता है । यह विषय आगे के पृष्ठों में स्पष्ट होगा ।

१. 'उपचार' का अर्थ लोचनकार ने 'अतिशयित व्यवहार' करके यह व्यक्त किया है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेततः व्यवहार प्रसिद्ध है उसे छोड़ कर उससे सम्बद्ध अर्थ में

ध्वन्यालोकः

सा चैतस्याङ्गक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १४ ॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोध-प्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है, यह भी नहीं हो सकता, यह कहते हैं—

'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह (ध्वनि) उस (भक्ति) से लक्षित नहीं हो सकता।' ॥ १४ ॥

भक्ति से ध्वनि नहीं ही लक्षित होता है। कैसे? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण! वहाँ, ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भक्ति का सम्भव है, यह अतिव्याप्ति है। जहाँ व्यंग्यकृत अधिक (महत्) सौष्ठव नहीं है वहाँ भी कविजन प्रसिद्धिवश उपचरित शब्द-व्यापार (गौणी वृत्ति) से व्यवहार करते देखे जाते हैं। जैसे—

लोचनम्

मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्। द्वितीयं पक्षं दूषयति—*अतिव्याप्तेरिति*। असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—*महत्सौष्ठवमिति*। अत एव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद् व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्—

अर्थात् गुणवृत्ति, लक्षणा। 'उपचरण' अर्थात् अतिशयित व्यवहार। 'मात्र' शब्द से यह कह सकते हैं—जहाँ तीसरे लक्षणा व्यापार से अतिरिक्त प्रयोजन-द्योतनरूप चौथा व्यापार वस्तुस्थिति के साथ सम्भव होता हुआ भी उपयुज्यमान न होने के कारण आदर का पात्र न होकर नहीं के बराबर है। 'प्रयोजन' का लक्षण यह है—'जिस वस्तु को लेकर कोई प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है' (यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्)। वहाँ भी लक्षणा है। इस प्रकार कैसे ध्वनन और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं?

दूसरे पक्ष में दोष देते हैं—अतिव्याप्ति होने के कारण—। 'यह' अर्थात् ध्वनि। उससे अर्थात् भक्ति से। शङ्का है कि (लक्षणा में) ध्वनन अवश्यम्भावी है, ऐसी स्थिति में कैसे उस (ध्वनि) से भिन्न-विषय है? इस पर कहते हैं—अधिक सौष्ठव (या

शब्द का व्यवहार ही अतिशयित व्यवहार है। यद्यपि इस उपचार रूप गुणवृत्ति या लक्षणा में 'प्रयोजन' भी होता है, किन्तु वहां उपयोगी न होने के कारण न होने के समान (असत्कल्प) ही माना जाता है। इसलिए वृत्तिग्रन्थ में 'उपचार' के साथ 'मात्र' का प्रयोग है।

ध्वन्यालोकः

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

दोनों ओर मोटे स्तन और जघन के सम्पर्क से अधिक मुर्झाया हुआ, मध्यभाग (कटि) के बीच सम्पर्क प्राप्त न करके हरा ही बना हुआ एवं शिथिल भुजलता के फेंकने और मोड़ने की क्रियाओं से इधर-उधर अस्तव्यस्त, कमलिनी के पत्तों का यह शयन कृश अङ्गोंवाली का विरहसन्ताप कह रहा है।

लोचनम्

'समाधिरन्यधर्मस्य क्वाप्यारोपो विवक्षित' इति दर्शयति । ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह—*प्रसिद्ध्यनुरोधेति* । परम्परया तथैव प्रयोगात् ।

वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः । उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः । वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । [1]यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात् ? गूढतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम् ? अनेनैवाशयेन वक्ष्यति—

सौन्दर्य)—। अतएव भाव यह कि प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यञ्जक होने से (व्यञ्जना व्यापार से) कुछ नहीं होता जाता। 'अधिक' (महत्) ग्रहण से (यह ज्ञात होता है कि वह (व्यञ्जकत्व या व्यञ्जना व्यापार), कोई गुणमात्र (अप्रधान) होता है। जैसा कि कहा है—'दूसरे के (अप्रस्तुत के) धर्म का कहीं पर जब आरोप विवक्षित हो तब 'समाधि' (नाम का गुण) कहते हैं' इसे दिखाते हैं। शङ्का है कि प्रयोजन के अभाव में कैसे उस प्रकार व्यवहार होगा ? इस प्रकार कहते हैं—प्रसिद्धिवश—। क्योंकि परम्परा से उसी प्रकार प्रयोग है।

हम तो कहते हैं—प्रसिद्धि वह है जो प्रयोजन की अनिगूढता (प्रकटरूपता) है। भाव यह कि उत्तानरूप से प्रकाशित होता हुआ प्रयोजन खज़ाने की भाँति निगूढता की अपेक्षा करता है। 'वदति'[1] ('कह रहा है') इस 'उपचार' में स्फुटीकरण की प्रतीति प्रयोजन है। यदि अनिगूढ या प्रकटरूप से शब्दतः उक्त कर दिया जाए तो क्या

१. 'वदति' अर्थात् 'प्रकटयति'। 'वदति' का प्रयोजन है प्रकटन का ज्ञान। यदि कवि ने 'प्रकटयति' ही लिख दिया होता तब भी कोई अचारुत्व नहीं होता और 'वदति' इस उपचरित व्यवहार या गूढरूप से वर्णन से कोई अधिक चारुत्व भी सिद्ध नहीं होता। यह कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता, किन्तु भक्ति का विषय तथापि माना जा सकता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

ध्वन्यालोकः

तथा—

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
(शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वश्चुम्ब्यते ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥
इति च्छाया)

तथा—

कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ ॥

उसी प्रकार—

प्रिय को सौ बार चुम्बन करते हैं; हजार बार अवरोधन (आलिङ्गन) करते हैं, विराम करके रमण करते हैं, फिर भी पुनरुक्त नहीं होता !

उसी प्रकार—

खिसियानी, खुश, रुआंसी या हँसती, चाहे जिस रूप में ग्रहण करो मनचली औरतें दिल हर लेती हैं ।

लोचनम्

यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति । अवरुन्धिज्जइ आलिङ्ग्यते । पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात् ।

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

अचारुत्व हो जाता है ? अथवा गूढ या अप्रकटरूप से वर्णन करने पर क्या चारुत्व अधिक हो जाता है ? इसी आशय से कहेंगे—'क्योंकि 'दूसरी उक्ति से जो अशक्य है—' इत्यादि । अवरोधन करता है अर्थात् आलिङ्गन करता है । 'पुनरुक्त'[१] इससे अनुपादेयता लक्षित होती है, क्योंकि वचनरूप उक्त अर्थ का (प्रियजन के अर्थ में) सम्भव नहीं ।

१. पुनरुक्त और पुनर्वचन, किसी बात को दुबारा कहना । प्रिय तो कोई वचन नहीं है जो पुनरुक्त होता है, इस प्रकार यहाँ मुख्यार्थ का बाध होकर लक्षणा होती है और उससे लक्षित होती है अनुपादेयता, अर्थात् प्रिय की तब भी किसी प्रकार अनुपादेयता नहीं होती, बल्कि उसकी उपादेयता सब प्रकार से बनी रहती है । यहाँ पर अधिकफलशालित्व रूप प्रयोजन प्रतीत होता है किन्तु चमत्कारी न होने के कारण आदरणीय नहीं है । इसलिए पूर्ववत् यह भी ध्वनि का विषय नहीं है ।

ध्वन्यालोकः

तथा—

अज्झाएँ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो व्विअ जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
(भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुःसह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥
इति च्छाया)

उसी प्रकार—

'प्रिय ने नवलता से जब भार्या के स्तन पर प्रहार दिया तब वह (प्रहार) मृदु होकर भी सौतों के हृदय में दुःसह हो गया।'

लोचनम्

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते । हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः ।

तथा–अज्जेति । कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडायोगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासंविभागमप्राप्तानां हृदये दुःसहो जातः, मृदुकत्वादेव । अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च सम्पद्यते । दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम् । दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते ।

यहाँ 'ग्रहण'[१] से उपादेयता लक्षित होती है और 'हरण' से उसके परतन्त्र हो जाने की स्थिति (लक्षित होती है)।

'उसी प्रकार' भार्या—। छोटी भार्या के स्तन पर नवलता से प्रिय द्वारा उचित क्रीड़ा के सम्बन्ध से दिया हुआ मृदु भी प्रहार सौभाग्य के सूचक उस क्रीड़ा-संविभाग को नहीं पाई हुई सौतों के हृदय में दुःसह हो गया. मृदु होने के कारण ही। दूसरे को दिया हुआ मृदु प्रहार दूसरे को प्राप्त होता है। मृदु होकर भी दुःसह है यह आश्चर्य है। यहाँ (प्रहार के) 'दान'[२] या दिए जाने से फलवत्त्व (सफल होना) लक्षित होता है।

१. 'गृहीताः' में ग्रहण से स्वैरिणी महिलाओं (मनचली औरतों) की उपादेयता लक्षित होती है और 'हरन्ति' में हरण से परतन्त्रता लक्षित होती है, हर लेती है अर्थात् अपने वश में कर लेती हैं। यहां भी व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य के अभाव में ध्वनि नहीं है।

२. 'दत्तः में 'दान' तो किसी पदार्थ का होता है, यह 'दान' का मुख्य अर्थ प्रस्तुत में 'प्रहार के दान' में बाधित होने के कारण फलवत्त्व लक्षित होता है। पूर्ववत् यह भी ध्वनि का विषय नहीं।

ध्वन्यालोकः

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः। न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः।

उसी प्रकार—

जो दूसरों के लिए पीड़ा (कष्ट या पीड़न अर्थात् रस निकालने के लिए यन्त्र में पीड़ित होने) का अनुभव करता है, टूट जाने पर भी मधुर (मीठा) बना रहता है, सबों को जिसका विकार (रस अथवा दोष) भी अच्छा लगता है वह ईख यदि ऊसर जमीन में पड़कर नहीं बढ़ा तो क्या यह ईख का दोष (अपराध) है, गुणहीन मरुभूमि का नहीं ?

यहाँ ईख के पक्ष में 'अनुभव करता है' यह शब्द (उपचरित है), इस प्रकार का शब्द कभी ध्वनि का विषय नहीं होता ॥ १४ ॥

लोचनम्

तथा—परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयानुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते; तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति ।

नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—*न चैवंविध इति ॥ १४ ॥*

उसी प्रकार—दूसरों के लिए—। प्रस्तुत महापुरुष की अपेक्षा यद्यपि 'अनुभव करता है' शब्द मुख्य ही है, तथापि अप्रस्तुत इक्षु की प्रशंसा की जाने पर नहीं सम्भव होते हुए पीड़ा के अनुभव से पीड़ावान् होना लक्षित होता है, और वह पीड्यमान होने में पर्यवसित होता है।[1] शङ्का करते हैं कि यदि प्रयोजन यहाँ है तो क्यों नहीं ध्वनित होता है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—इस प्रकार का—। ॥ १४ ॥

---

१. यद्यपि प्रकृत 'महापुरुष' के पक्ष में 'अनुभवति' शब्द उपपन्न है, तथापि अप्रकृत 'इक्षु' के पक्ष में असम्भव होता हुआ (क्योंकि जड़ पदार्थ इक्षु अनुभव करने की सामर्थ्य नहीं रखता) पीडावत्त्व को लक्षित करता है । यहाँ भी व्यङ्ग्य के अप्राधान्य में ध्वनि का अभाव है ।

इन पाँचो उदाहरणों का यही अभिप्राय है कि अतिव्याप्त होने के कारण 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।

ध्वन्यालोकः

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥ १५॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः। किञ्च—

क्योंकि—

जो चारुत्व दूसरी उक्ति (उक्त्यन्तर) से प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसे प्रकाशित करने वाला एवं व्यञ्जकता (व्यञ्जनाव्यापार) को धारण करने वाला शब्द 'ध्वनि' इस उक्ति का विषय होता है॥ १५॥

और यहाँ उदाहृत विषय में शब्द दूसरी शक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है। और भी,

लोचनम्

यत उक्त्यन्तरेणेति। उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः। शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्। *ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति*—ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः। *उदाहृत इति*। वदतीत्यादौ॥ १५॥

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह—*किञ्चेति*। लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः, रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः। यदाह—

'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।'

इति। ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति; न

क्योंकि—दूसरी उक्ति से—। दूसरी उक्ति से अर्थात् ध्वनि से अतिरिक्त स्फुट शब्द और अर्थ के व्यापार-विशेष से। 'शब्द' को पाँचो अर्थों में लगाना चाहिए 'ध्वनि' इस उक्ति का विषय होता है—। अर्थात् 'ध्वनि' शब्द से कहा जाता है। उदाहृत—। 'वदति' इत्यादि में।

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन रहता हुआ भी आदरास्पद नहीं है वहाँ ध्वनन-व्यापार क्या? यहाँ कहकर जहाँ मूलतः ही प्रयोजन नहीं है किन्तु उपचार है, वहाँ भी ध्वननव्यापार क्या? यह कहते हैं—और भी—। 'लावण्य' आदि जो शब्द 'लवणरस से युक्तत्व' आदि अपने विषयरूप स्वार्थ से अन्यत्र हृद्यत्व अर्थ आदि में रूढ़ हैं, रूढ़ होने के कारण ही त्रितय (अर्थात् मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन) के सन्निधान की अपेक्षारूप व्यवधान से रहित हैं। क्योंकि कहा है—

'कुछ निरूढ़ लक्षणाएँ प्रयोग की सामर्थ्य से अभिधान के सदृश ही होती हैं।' वे ('लावण्य' आदि प्रयुक्त शब्द) अपने विषय से अन्यत्र प्रयुक्त होकर भी 'ध्वनि' के

ध्वन्यालोकः

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में शब्द दूसरी उक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है । और भी, अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में जो शब्द रूढ हो जाते हैं, जैसे कि 'लावण्य' आदि प्रयुक्त शब्द, वे ध्वनि के विषय नहीं होते ॥ १६ ॥

उनमें उपचरित शब्दवृत्ति है । उस प्रकार के विषय में कहीं पर सम्भव होता हुआ भी ध्वनि का व्यवहार प्रकारान्तर से होता है, उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

लोचनम्

तत्र ध्वनिव्यवहारः । उपचरिता शब्दस्य वृत्तिर्गौणी; लाक्षणिकी चेत्यर्थः । आदिग्रहणेनानुलोम्यं प्रातिकूल्यं सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्ते । लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम् । कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम् । तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः । अन्यः पुनरुपचरित एव । न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः ।

ननु 'देवडिति लुणाहि पलुत्रम्मिगमिज्वालवणुज्वलं गुमरिफेल्लपरण्य' (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसन्निधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः; सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात् । अपि तु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव । अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना ।

विषय नहीं होते हैं, 'ध्वनि' व्यवहार उनमें नहीं होता । उपचारिता शब्द-वृत्ति गौणी है अर्थात् लाक्षणिकी । 'आदि' ग्रहण से 'आनुलोम्य, प्रातिकूल्य, सब्रह्मचारी' इत्यादि प्रकार के लाक्षणिक शब्द गृहीत होते हैं । लोकों का अनुगत अनुलोम है अर्थात् मर्दन । कूल के प्रतिपक्ष होकर स्थित स्रोत प्रतिकूल होता है । तुल्यगुरु सब्रह्मचारी । इस प्रकार मुख्य विषय है । दूसरा फिर तो उपचरित ही है । यहाँ कोई प्रयोजन को उद्देश्य करके लक्षणा प्रवृत्त नहीं है, अतः तद्विषयक ध्वननव्यापार नहीं है ।

शङ्का करते हैं कि 'देवडिति' (?) इत्यादि में 'लावण्य' आदि शब्द के सन्निधान में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है ? ठीक है, परन्तु वह (अभिव्यक्ति) 'लावण्य' शब्द से नहीं है, अपितु समग्र वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ध्वननव्यापार से ही है । यहाँ प्रियतमा के मुख का ही समस्त आशा का प्रकाशकत्व ध्वनित होता है, इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १७ ॥

और भी,

जिस फल को उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुणवृत्ति से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है वहाँ (उस फल के बोधन में) शब्द स्खलद्गति अर्थात् बाधितार्थ नहीं है।

लोचनम्

तदाह—*प्रकारान्तरेणेति* । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः ॥ १६ ॥

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तदा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः । न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः । ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—*अपि चेत्यादि* । मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयार्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनरूपमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने

अधिक कहना व्यर्थ है। अतः कहते हैं—प्रकारान्तर से—। व्यञ्जनाव्यापार से ही। अर्थात् न कि उपचरित लावण्य आदि शब्द के प्रयोग से (ध्वनित होता है)।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति है वहाँ-वहाँ ध्वनि है, ऐसा नहीं। इसलिए ध्वनि का यदि 'भक्ति' लक्षण है तब तो 'भक्ति' के समीप सर्वत्र 'ध्वनि' का व्यवहार होना चाहिए (पर नहीं होता) अत; अतिव्याप्ति (अलक्ष्य में लक्षण का संक्रमण) है। अभ्युगम करके (मान करके) भी कहते हैं—जहाँ-जहाँ 'भक्ति' है वहाँ-वहाँ 'ध्वनि' हो, तथापि लक्षणाव्यापार जिस विषय का है उस विषय का ध्वननव्यापार नहीं है। भिन्न विषय वालों का धर्मधर्मिभाव नहीं होता। और धर्म ही 'लक्षण' भी कहा जाता है। लक्षणा अमुख्यार्थविषयक व्यापार है और ध्वनन प्रयोजनविषयक व्यापार। लक्षणाव्यापार को प्रयोजनविषयक मानना ठीक नहीं' क्योंकि लक्षणा की (मुख्यार्थबाध आदि) सामग्री का अभाव है, इस अभिप्राय से कहते हैं—और भी—। मुख्य वृत्ति अर्थात् अभिधा व्यापार को छोड़कर अर्थात् परिसमाप्त कर, लक्षणारूप गुणवृत्ति से अमुख्य अर्थ की प्रत्यायना (बोधन) है, वह जिस फल या कर्मभूत प्रयोजन को उद्देश्य करके की जाती

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्; तस्मात्—

क्योंकि वहाँ चारुत्वातिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के कर्त्तव्य होने पर यदि शब्द की अमुख्यता ही रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता ही होगी। परन्तु ऐसा नहीं है इस कारण—

लोचनम्

तावद् द्वितीयो व्यापारः। न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनानवस्थानात्। तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषय इति भावः। दर्शनमिति ण्यन्तो निर्देशः। *कर्तव्य* इति। अवगमयितव्य इत्यर्थः। *अमुख्यतेति*। बाधकेन विधुरीकृततेत्यर्थः। *तस्येति* शब्दस्य। *दुष्टतैवेति*। प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः। उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं, तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तस्मा-

है, उस प्रयोजन में दूसरा व्यापार है। वह लक्षणा ही नहीं है, क्योंकि स्खलित होती हुई अर्थात् बाधक व्यापार से कुण्ठित हो रही गति अर्थात् अवबोधनशक्ति जिस शब्द की है, उसका व्यापार लक्षणा है। परन्तु जो शब्द प्रयोजन का बोध कर रहा है, उसका बाधक के साथ योग नहीं है। वैसा होने पर (अर्थात् यदि बाधक को स्वीकार करते हैं तो) वहाँ भी दूसरे निमित्त या दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण किया जायगा, ऐसी स्थिति में अनवस्था होगी। तब (जब कि बाधकयोग नहीं है) यह लक्षणलक्षणा का विषय नहीं है, यह तात्पर्य है। 'दर्शन' यह ण्यन्त निर्देश है (अर्थात् दिखाना या बोधन करना)। कर्तव्य अर्थात् अवगमयितव्य। अमुख्यता—। अर्थात् बाधक से विधुर (कुण्ठित) हो जाना। उस शब्द के। दुष्टता ही—। सुखपूर्वक प्रयोजन का अवगम हो इसलिए वह शब्द अमुख्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। और यदि 'सिंहो वटुः' यहाँ बोधनीय शौर्यातिशय में भी शब्द का स्खलद्गतित्व (बाधकयोग) है, तब तो (लक्षक शब्द) उस शौर्यातिशय की प्रतीति को नहीं उत्पन्न करेगा, ऐसी स्थिति में उसका प्रयोग ही क्योंकर होगा? यदि कहिए कि 'उपचार' से करेगा, तब तो वहाँ भी दूसरा प्रयोजन ढूँढ़ना चाहिए, फिर वहाँ भी उपचार होगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। जब स्खलद्गतित्व (बाधकयोग) नहीं है, तब तो प्रयोजन के बोधन में 'लक्षणा' नाम का

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १८ ॥

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः । अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य ।

'वाचकत्व (अर्थात् अभिधा व्यापार) के आश्रय से ही गुणवृत्ति (या लक्षणा) व्यवस्थित है, फिर व्यञ्जकत्व (व्यञ्जनाव्यापार) जिसका एकमात्र मूल है, उस ध्वनि का वह लक्षण कैसे हो सकती है ?

इस कारण ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है। इस लक्षण की अव्याप्ति

लोचनम्

मग्रयभावात् । न च नास्ति व्यापारः । न चासावभिधा, समयस्य तत्राभावात् । यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः । न चैवमिति । न च प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविघ्नेनैव प्रतीतेः । तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन प्रविवित्सुर्निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वादन्यत्र प्रसरति । अत एव अमुख्योऽस्यायमर्थ इति व्यवहारः । तथैव चामुख्यतया संकेतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ॥ १७ ॥

उपसंहरति—*तस्मादिति* । यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा, ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः । सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात् ? भिन्नविषयत्वादिति । एतदुपसंहरति—*तस्मादिति* ।

यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च भिन्नविषयत्वं तस्मादित्यर्थः । एवम्

व्यापार नहीं है, क्योंकि उसकी सामग्री वहाँ नहीं है । ऐसा नहीं कह सकते कि (वहाँ) व्यापार ही नहीं । फिर वह व्यापार अभिधा नहीं, क्योंकि 'समय' (सङ्केत) का वहाँ अभाव है। जो अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यापार है, वह ध्वनन व्यापार है । परन्तु ऐसा नहीं—। न कि प्रयोग में कोई दोष है, क्योंकि प्रयोजन की विना किसी विघ्न के, प्रतीति हो जाती है । इसलिए अभिधा ही मुख्य अर्थ में बाधक के कारण बोध की इच्छा रखनेवालों द्वारा रोक दी गई होकर अचरितार्थ होने के कारण अन्यत्र (दूसरे अर्थ में) फैलती है । इसलिए 'यह इसका मुख्य अर्थ है' यह व्यवहार चलता है । उसी प्रकार अमुख्यरूप से संकेत ग्रहण भी वहाँ है, इस प्रकार लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत ही है ।

उपसंहार करते हैं—इस कारण से—। जिस कारण लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत ही है, उस कारण वाचकत्वरूप अभिधाव्यापार पर आश्रित, उसके (अभिधा को) पुच्छभूत होने के कारण गुणवृत्ति अर्थात् गौण-लाक्षणिक प्रकार है। वह (गुणवृत्ति) व्यञ्जनारूप 'ध्वनि' का लक्षण कैसे हो सकती है ? क्योंकि (उसका) विषय भिन्न है। इसका उपसंहार करते हैं—उस कारण—। अर्थात् जिस कारण अतिव्याप्ति कही गई

लोचनम्

'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' इति कारिकागतामतिव्याप्तिं व्याख्यायाव्याप्तिं व्याचष्टे—*अव्याप्तिरप्यस्येति*। अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेन्न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्; अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादौ। 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम्। ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति। केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते—'सिंहो बटुः' इति। अर्थो वाऽर्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति। शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद् गौणस्य भेदः। यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका। सा च पञ्चविधा। तद्यथा—अभिधेयेन संयोगात्; द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते, अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य। सामीप्यात् 'गङ्गायां घोषः' समवायादिति सम्बन्धा-

और उसके प्रसंग से (गुणवृत्ति और ध्वनि का) भिन्न-विषयत्व है उस कारण। इस प्रकार 'अतिव्याप्ति' और अव्याप्ति के कारण 'वह ध्वनि उस (भक्ति) से लक्षित नहीं हो सकता (अर्थात् 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती)' इस 'कारिका' में आई हुई अतिव्याप्ति का व्याख्यान करके अव्याप्ति (लक्ष्य में लक्षण की अप्राप्ति) का व्याख्यान करते हैं—अव्याप्ति भी इसका—। इसका अर्थात् गुणवृत्तिरूप (लक्षण) का जहाँ-जहाँ 'ध्वनि' है वहाँ-वहाँ 'भक्ति' हो तो अव्याप्ति न हो। पर ऐसा नहीं है; अविवक्षितवाच्य में 'भक्ति' है; जैसे 'सुवर्णपुष्पाम्०' इत्यादि में। 'शिखरिणि०' इत्यादि में वह कैसे है ? शङ्का है कि लक्षणा गौण स्थल को भी व्याप्त करती है। केवल ('सिंह') आदि शब्द उस ('वटु' आदि) अर्थ को लक्षित करके उसी ('वटु' आदि शब्द) के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त करता है। अथवा, ('सिंह' आदि) अर्थ ('वटु' आदि) अर्थान्तर को लक्षित करके अपने वाचक से उसके वाचक को समानाधिकरण कर देता है। अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक ही काल में उस 'बटु' आदि अर्थ को लक्षित करके दूसरे शब्द और अर्थ के साथ मिल जाते हैं। इस प्रकार लाक्षणिक से गौण का भेद है। जैसा कि कहते हैं—'गौण में शब्दप्रयोग होता है, लक्षणा में नहीं।' उस (गौण स्थल) में भी लक्षणा है ही, इस प्रकार वही सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली है। वह पाँच प्रकार की है, वह जैसे कि, अभिधेय के साथ संयोग होने से; 'द्विरेफ' शब्द का जो अभिधेय 'भ्रमर' शब्द है ('दो रेफ हैं जिसके' इसके अनुसार) उस 'भ्रमर' शब्द के साथ जिसका संयोग अर्थात् सम्बन्ध (वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध) 'षट्पद' रूप अर्थ का है, वह अर्थ व्याख्यात अभिधेय सम्बन्ध को निमित्त करके द्विरेफ' शब्द द्वारा लक्षित होता है। सामीप्य से; जैसे 'गङ्गा में घोष है'। समवाय

ध्वन्यालोकः

न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः। अन्ये च वहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्त; तस्माद्भक्तिरलक्षणम् ॥ १८ ॥

(अपने लक्ष्य में न संगत होना) भी है, क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य रूप (अभिधामूल) ध्वनि का प्रभेद और अन्य बहुत से (ध्वनि के) प्रकार भक्ति (लक्षणा) से व्याप्त नहीं हैं, अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है ॥ १८ ॥

लोचनम्

दित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा। वैपरीत्यात् यथा—शत्रुमुद्दिश्य कश्चिद् ब्रवीति—'किमिवोपकृतं न तेन मम' इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः। यथा-अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्। तथाहि—'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्लक्षणास्त्येव। नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्ह्युक्तं विवक्षितान्यपरेति ? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः। तद्भेदशब्देन च रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणाया उपपत्तिः। तथाहि-विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसम्भाव्य इति को लक्षणावकाशः ?

ननु किं बाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।' इति। इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कारणकार्यरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सह-

अर्थात् सम्बन्ध से, जैसे 'लाठियों को प्रवेश करो।' वैपरीत्य से, जैसे—शत्रु को उद्देश्य करके कोई कहता है 'क्या नहीं उसने मेरा उपकार किया है !' क्रियायोग से अर्थात् कार्यकारणभाव से; जैसे—अन्न को चुरानेवाले के प्रति यह व्यवहार करते हैं कि 'यह प्राणहरण करता है'। इस प्रकार इस पंचविध लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त हो जाता है। जैसा कि 'शिखरिणि०' इस स्थल में आकस्मिक प्रश्न-विशेष आदि बाधक का योग करने पर (भी) सादृश्य से लक्षणा है ही। (इस पर पूछते हैं कि) अगर यहाँ मध्य में लक्षणा मान भी लिया तो यह कहिए कैसे फिर 'विवक्षितान्यपर' ऐसा कहा है (क्योंकि लक्षणा के होने पर वाच्य का विवक्षित होना सम्भव नहीं)। उस विवक्षितान्यपरवाच्य का मुख्य भेद असंलक्ष्यक्रमरूप विवक्षित है। 'तद्भेद' शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम आदि उसके अवान्तरभेद भी हैं, उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं है। इस प्रकार—विभावानुभाव का प्रतिपादन करनेवाले काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक का योग भी सम्भावनीय नहीं, ऐसी स्थिति में लक्षणा का अवसर ही क्या है ?

शङ्का है कि बाधा की क्या जरूरत ? लक्षणा का इतना ही स्वरूप है—'अभिधेय के साथ अविनाभूत की (अर्थात् किसी भी सम्बन्ध से सम्बद्ध की) प्रतीति (या प्रतीति का हेतु) लक्षणा है।' और यहाँ रसादि विभाव-अनुभाव आदि अभिधेयों के अविनाभूत

लोचनम्

कारित्वादिति चेत्—मैवम्; धूमशब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति, सति तस्मिन्स्वार्थविश्रान्त्यभावात्। न च विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

नन्वेवं धूमावगमनानन्तराग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिरिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः—किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किं तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया

हैं अतः लक्षित होते हैं, क्योंकि रसादि के विभाव और अनुभाव क्रमशः कारण एवं कार्य हैं, और व्यभिचारी भाव उस रसादि के सहकारी हैं। (इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—) इस प्रकार नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'धूम' शब्द से धूम के ज्ञात होने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणाकृत होने लगेगी, तब अग्नि के द्वारा शीतापनोद की स्मृति होने लगेगी, इस प्रकार ('धूम') शब्द का अर्थ पर्यवसित (विश्रान्त) नहीं होगा। यदि कहिए कि 'धूम' शब्द के अपने अर्थ (धूमत्व या धूमविशिष्ट अर्थ) में विश्रान्त होने के कारण अग्नि आदि के अर्थ में व्यापार नहीं है, तब तो मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवित है, यह बात आ गई, उस (मुख्यार्थबाध) के रहते अपने अर्थ में विश्रान्ति नहीं हो सकती। और विभाव आदि के प्रतिपादन में कोई बाधक नहीं है।

शङ्का है कि जिस प्रकार धूम के ज्ञान के पश्चात् अग्नि का स्मरण होता है उसी प्रकार विभाव आदि की प्रतीति के पश्चात् रत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है, इस प्रकार यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं है। (इस शंका पर) प्रतीति के इस स्वरूप को जानने वाले मीमांसक (विचारक) से यह पूछना चाहिये—क्या यहाँ आपको दूसरे की चित्तवृत्ति मात्र (के सम्बन्ध) में जो प्रतीति होती है वही इसकी प्रतीति के रूप में आपको अभिमत है? परन्तु इस प्रकार आपको भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि ऐसी स्थिति में लोकगत चित्तवृत्ति का (यह) अनुमानमात्र है, रसता कैसी? जो कि अलौकिक चमत्कार रूप रसास्वाद, जिसका प्राण विभाव आदि की चर्वणा है, वह स्मरणजनित अनुमान के समान खिलीकार (असम्मान) का पात्र करना नहीं चाहिये। किन्तु लौकिक कार्य और कारण के अनुमान आदि से संस्कृत हृदय वाला व्यक्ति विभावादि को (काव्य या नाट्य से) अवगत करता हुआ तटस्थभाव से (अर्थात् ये दूसरे के हैं मेरे नहीं, इस भाव से) अवगम नहीं करता। अपितु हृदय-संवाद नामक

लोचनम्

पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं, येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अत एवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः। यदाह—'विभावो विज्ञानार्थः लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्यलौकिक एव। 'यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव' इति। तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्। लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कारसुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवमगाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अत एव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः, यत्प्रबन्धप्रवृत्त-

सहृदयत्व के परवश होने के कारण पूर्णता को प्राप्त करने वाले रसास्वाद के अंकुरीभाव से, अनुमान और स्मरण आदि की सरणि पर आरूढ़ हुये विना ही, तन्मय होने के उचित चर्वणा के उपयोग से (विभावादि को अवगत करता है)। पहले वह 'चर्वणा' प्रमाणान्तर से उत्पन्न नहीं हो चुकी होती है, जिससे इस समय उसे 'स्मृति' कहते, और न कि इस समय प्रमाणान्तर से उत्पन्न हो रही है, क्योंकि अलौकिक वस्तु में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यवहार नहीं होता। जैसा कि कहा है—विभाव विशेष ज्ञान की वस्तु है—वह लोक में 'कारण' ही कहा जाता है, विभाव नहीं। अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। जो कि यह वाणी, अङ्ग और सत्त्व से किया हुआ अभिनय अनुभवन कराता है, उस कारण अनुभाव है।' उन चित्तवृत्तियों से तन्मय हो जाना ही अनुभवन है। उसे लोक में कार्य ही कहते हैं, न कि अनुभाव। इसीलिये परकीय चित्तवृत्ति को (सामाजिक लोग) नहीं अनुभव करते, इस अभिप्राय से 'विभाव' अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' इस सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया। उसका ग्रहण प्रत्युत शल्यभूत (विरुद्ध) हो जाता। स्थायी भाव का रसीभाव (रस के रूप में परिणत होना) औचित्य के कारण कहा जाता है, क्योंकि वह (औचित्य) विभाव, अनुभाव और उचित चित्तवृत्ति के संस्कार से सुन्दर चर्वणा के उदय से होता है। और हृदय-संवाद की उपयोगिनी लोक-चित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान और पुलक आदि द्वारा स्थायीभूत रति आदि के अवगम से (औचित्य) होता है। चित्तवृत्ति रूप होने पर भी व्यभिचारी मुख्य चित्तवृत्ति के परवश ही होकर चर्वित होता है, अतः उसकी गणना विभाव-अनुभाव के बीच ही की गई है। अतएव रस्यमानता की यही निष्पत्ति है कि जो समय से प्रवृत्त बन्धु-समागम आदि कारण से

लोचनम्

बन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिलौकिकचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनम्, हेतुव्यापारवत्।

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत्? न न्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र। यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात्; अस्तु, किं ततः? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम्। नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वात् इत्यलं बहुना। अतश्च रसोऽयमलौकिकः। येन ललितपरुषानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्; का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुपयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः। अत एवालक्ष्यक्रमता।

उत्पन्न हर्ष आदि लौकिक चित्तवृत्ति के न्यग्भाव से चर्वणा की स्थिति है। इसलिये चर्वणा यहाँ अभिव्यंजन ही है न कि ज्ञापन, (इन्द्रिय आदि) प्रमाणों के व्यापार की भाँति, और (चर्वणा) उत्पादन रूप (व्यापार) भी नहीं है, (दण्ड, चक्र आदि) हेतु के व्यापार की भांति।

शङ्का है कि यदि यह (रसचर्वणा) न ज्ञप्ति है और न तो निष्पत्ति है, तो फिर है क्या? (उत्तर में कहते हैं कि) रस तो अलौकिक है। तब जब प्रश्न उठता है कि विभावादि यहाँ ज्ञापक हेतु है अथवा कारक हेतु? (इसका उत्तर यह है कि) वह न तो ज्ञापक हेतु है और न तो कारक, बल्कि वह चर्वणा का उपयोगी है। (तब प्रश्न है कि) यह कहाँ देखा है? (इसका उत्तर यह है कि) जिस कारण नहीं देखा उसी कारण 'अलौकिक' कहा। तब तो इस प्रकार रस अप्रमाण होगा! (उत्तर है कि) हो, उससे क्या? जब उसकी चर्वणा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति सिद्ध हो जाती हैं तो और क्या चाहिये? (शङ्का है कि) इस कथन का कोई प्रमाण नहीं, (समाधान है) कि नहीं, यह बात अपने संवेदन से सिद्ध है, क्योंकि चर्वणा ज्ञानविशेष रूप ही है। अब बहुत कहना व्यर्थ है। इसलिये यह रस आलौकिक है। जिस कारण अर्थ के अभिधान के उपयोगी न होने वाले ललित एवं परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति व्यंजकत्व है फिर लक्षणा की शंका भी कैसे सम्भव है। काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही रस की चर्वणा देखी जाती है। क्योंकि सहृदय को बार-बार काव्य पढ़ते हुये और चर्वणा करते हुये देखते हैं, न कि काव्य रूप शब्द का (चर्वण करते हुये देखते हैं); इस प्रकार वहाँ 'उपादान करके भी जो त्याज्य हैं' इस न्याय के अनुसार जिसकी प्रतीति कर ली गई उसका उपयोग ही नहीं, इसलिये शब्द का भी 'ध्वनन' व्यापार

लोचनम्

यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया। शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात्कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत्। अविरुद्धत्वे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात्। क्रमेणापि विरम्यव्यापारायोगः। पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात्। प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति श्रुतौ 'खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमे'ति प्रसज्यते। तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम्। इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकादास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः। अत एव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव सहृदया वक्त्रभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते।

है। अतएव उसकी अलक्ष्यक्रमता है। जो कि वाक्यभेद होगा (अर्थात् एक ही काव्य-वाक्य के वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों के बोधक होने के कारण वाक्यभेद होगा) यह किसी ने कहा है, वह अनभिज्ञता के कारण है, क्योंकि शास्त्र एक बार उच्चरित होकर समय (संकेत) के बल से अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ एक ही काल में विरुद्ध अनेक संकेतों की स्मृति के न होने के कारण कैसे दो अर्थों का प्रत्यायन करेगा ! अविरुद्ध होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ होगा। क्रम से भी, एक व्यापार के विरत हो जाने के पश्चात् व्यापार नहीं होता। यदि पुनः वाक्य का उच्चारण कीजिएगा तब भी वही समय (संकेत) और प्रकरण आदि उसी प्रकार बने रहेंगे। प्रकरण और समय (संकेत) से प्राप्त होनेवाले अर्थ को तिरस्कार करके दूसरे अर्थ के प्रत्यायक (बोधक) होने में कोई नियम नहीं है। इस कारण 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वेदवाक्य में 'श्वमांस का भक्षण करे' यह अर्थ नहीं है, यहाँ कौन प्रमा है यह बात प्रसक्त होगी। वहाँ दूसरे अर्थ में भी कोई इयत्ता नहीं है, इस प्रकार (अनिश्चितार्थक होने के कारण वाक्य में बोधकता नहीं, इस प्रकार) वाक्यभेद दोष ठहरता है। यहाँ (काव्य में) विभावादि ही प्रतिपाद्यमान होकर चर्वणा के विषय होने के लिए उन्मुख हैं, ऐसी स्थिति में संकेत आदि का कोई उपयोग नहीं। 'मैं इसमें नियुक्त हूँ', 'मैं कर रहा हूँ', 'मैं कर चुका' इस प्रकार की शास्त्रीय प्रतीति के समान काव्यजन्य प्रतीति नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय प्रतीति में उत्तरकाल में जो कर्त्तव्य है उसके प्रति उन्मुखता होने के कारण लौकिकता है। परन्तु यहाँ (काव्य में) ऐन्द्रजालिक पुष्प की भाँति विभावादि चर्वणा उसी समय ही पूर्णरूप से उदित होती है, न कि पूर्वापरकाल की अनुबन्धिनी है, इस प्रकार यह रसास्वाद लौकिक आस्वाद से और योगी के विषय से दूसरा ही है। इसीलिए 'शिखरिणि०' इत्यादि पद्य में भी मुख्यार्थ के बाध आदि की

लोचनम्

अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात्। अस्माभिस्तु दुर्दुरूटं प्रत्याययितुमुक्तम्—भवत्वत्र लक्षणा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति। यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना। उपसंहरति—*तस्माद्भक्तिरिति* ॥ १८ ॥

अपेक्षा न करके ही सहृदय लोग चाटुप्रीतिरूप वक्ता के अभिप्राय को समझते हैं। अतएव ग्रन्थकार ने सामान्यरूप से विवक्षितान्यपरवाच्य[1] ध्वनि में भक्ति का अभाव कहा है। हमने तो नास्तिकता की वाणी के ग्रह से ग्रस्त व्यक्ति को समझाने के लिए कहा है—'हो यहाँ लक्षणा, परन्तु अलक्ष्यक्रमध्वनि में कुपित होकर भी क्या करोगे ? यदि कुपित नहीं होते हो तो 'सुवर्णपुष्पाम्०' इत्यादि अविवक्षितवाच्य ध्वनि में भी मुख्यार्थबाध आदि लक्षणा की सामग्री की अपेक्षा न करके ही व्यङ्ग्य अर्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बहुत कहना व्यर्थ है। उपसंहार करते हैं—इसलिए भक्ति—।

---

१. विस्तृत 'लोचन' का कुछ स्पष्टीकरण यह है कि लक्षणा का वही विषय हो सकता है जहाँ किसी प्रकार का बाधक उपस्थित होता है। जैसे 'गङ्गा में घोष' इस स्थल में गङ्गा और घोष में आधाराधेयभाव की अनुपपत्तिरूप बाधक का योग है अतः यहाँ लक्षणा व्यापार क्रियाशील होता है। अब यदि चतुर्थ व्यञ्जना व्यापार के विषय प्रयोजन को भी तृतीय लक्षणा व्यापार का विषय बनाने की चेष्टा करते हैं तो कहिए कि यहाँ बाधक का योग या स्खलद्गति क्या है ? स्वयं 'प्रयोजन' शब्द ही इस बात का सूचक है कि यहाँ कोई बाधा नहीं, क्यों कि जिस उद्देश्य को सूचित करने के लिए कोई बाधित बात कही जाय तो स्वयं उद्देश्य कैसे बाधक-योग से युक्त होगा ? किसी प्रकार यदि 'प्रयोजन' में भी लक्षणा को ही मानते हैं तब प्रयोजन के प्रयोजन की बात उपस्थित होती है, इस प्रकार अनवस्था होगी अतः 'प्रयोजन' को एक मात्र व्यञ्जना का ही विषय मानना होगा, न कि लक्षणा का। यह विषय 'काव्यप्रकाश' में भी निर्दिष्ट है।

लक्षणा को अभिधा का 'पुच्छभूत' कहा है। क्योंकि जब अभिधा मुख्य अर्थ में बाधक से रोक दी जाती है तब स्वयं एक प्रकार से अचरितार्थ हो कर अन्य अर्थ की ओर चल पड़ती है। इस प्रकार लक्षणा उपस्थित होकर अमुख्य अर्थ को बोधित करती है। वहाँ भी अमुख्य रूप से संकेत ग्रहण होता है। ऐसी स्थिति में विना अभिधा के लक्षणा का कोई अवसर ही नहीं, इस कारण लक्षणा अभिधापुच्छभूत कही जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि जब लक्षणा अभिधा की पूंछ बन कर रहती है तब वह व्यञ्जन रूप ध्वनि का मुकाबला क्या कर सकती है ? अतः लक्षणा (भक्ति) को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता। ध्वनि का विषय भिन्न होता है और लक्षणा का भिन्न। इस प्रकार लक्ष्य से अतिरिक्त स्थल में भी लक्षणा की प्राप्तिरूप अतिव्याप्ति दोष ध्वनि का लक्षण 'भक्ति' को मानने पर होगा। तथा ऐसा करने पर लक्ष्य में अप्राप्तिरूप अव्याप्ति भी होगी। जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य रूप ध्वनि में लक्षणा का प्रसंग न होने के कारण ध्वनि का 'भक्ति' रूप लक्षण अव्याप्त होगा।

पुनश्च, 'लोचन' में लक्षणा के इन पाँच रूपों का निर्देश आचार्य ने उदाहरण के साथ किया है—

ध्वन्यालोकः

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

वह ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है ।

लोचनम्

ननु मा भूद् ध्वनिरिति भ[illegible]र्त चैकं रूपम्। मा च भूद्भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति; यत्र ध्वनिर्भवति, तत्र भक्तिरप्यस्तीति भक्त्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धं ? किं वा नः त्रुटितम् ?

शङ्का है कि ध्वनि और भक्ति दोनों एकरूप न हों और 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण भी न हो, परन्तु उपलक्षण तो होगी ? जहाँ ध्वनि है वहाँ भक्ति भी है, इस प्रकार ध्वनि भक्ति से उपलक्षित है। (इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि) यह (उपलक्षण)

अभिधेयेन सामीप्यात् संयोगात्समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

इस प्रकार 'शिखरिणि०' इस श्लोक में आकस्मिक प्रश्न-विशेष आदि रूप बाधक को लेकर सादृश्य से लक्षणा होगी, ऐसी स्थिति में लक्षणा या भक्ति को विवक्षितान्यपरवाच्य रूप में ध्वनि के स्थल में भी व्याप्त होने पर अव्याप्ति न होगी। इस पर 'लोचनकार' ने विशेष रूप से अन्त में यह कहा है कि यहाँ यद्यपि मुख्यार्थ का बाध सम्भव है किन्तु सहृदय को उसकी अपेक्षा ही नहीं होती, बल्कि वे लोग यहाँ वक्ता के—चाटु प्रीति रूप अभिप्राय को ही यहाँ विदित करते हैं। अतः यहाँ लक्षणा के प्रसंग की कल्पना अनावश्यक है। असल में ध्वनि के जिस स्थल में लक्षणा का कोई सम्पर्क सम्भावित नहीं, वह है असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, अर्थात् रसादि ध्वनि। काव्य द्वारा विभावानु-भाव का जो प्रतिपादन होता है वहाँ रंचमात्र भी बाधक का अनुप्रवेश नहीं। ऐसी स्थिति में 'भक्ति' रूप लक्षण अपने लक्ष्य में प्राप्त न होने से अव्याप्त होगा।

तब मीमांसक-पक्ष से शङ्का करते हैं, कि हमें 'लक्षणा' पूर्वोक्त स्वरूप की मान्य नहीं, बल्कि, लक्षणा अभिधेय की अविनाभूतप्रतीति है। अर्थात् अभिधेय के साथ किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध की प्रतीति ही लक्षणा है। इस प्रकार अभिधेय रूप विभाव-अनुभाव के अविनाभूत रसादि लक्षणा का विषय होंगे। फिर यह समस्या नहीं जाती है कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में लक्षणा की प्राप्ति नहीं है।

उसके उत्तर में आचार्य ने पहले 'लक्षणा' के इस लक्षण का ही खण्डन किया। उनके अनुसार जब अभिधेय की अविनाभूतप्रतीति ही लक्षणा होगी तब तो 'धूम' शब्द से धूम के ज्ञान होने पर उससे अविनाभूत अग्निस्मृति को भी आप लक्षणा का कार्य ही स्वीकार करेंगे और तत्पश्चात् अग्नि से शीतापनोदन की स्मृति को भी 'धूम' का शब्दार्थ मानेंगे, इस प्रकार इतने शब्दार्थों की कल्पना करनी पड़ेगी कि जिसका कोई अन्त नहीं। अन्ततोगत्वा आपको मुख्यार्थ बाध को लक्षणा का बीज मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार विभाव आदि में बाधक का अभाव होने से लक्षणा का सम्पर्क नहीं है, यह बात तदवस्थ रहती है।

ध्वन्यालोकः

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः। किं च

वह भक्ति वक्ष्यमाण प्रभेदों में से किसी एक भेद के यदि उपलक्षण रूप से सम्भावित हो सके; और यदि 'गुणवृत्ति से ही ध्वनि लक्षित होता है' यह कहते हैं तो अभिधा व्यापार से ही समग्र अलङ्कार वर्ग लक्षित हो सकता है, ऐसी स्थिति में अलग-अलग अलङ्कारों का लक्षण करना व्यर्थ होगा। और भी,

लोचनम्

इति तदाह—*कस्यचिदित्यादि*। ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता, तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्क्याह—*यदि चेति*। अभिधानाभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः; ततश्चाभि-

सर्वत्र नहीं है, इतने से (अर्थात् भक्ति के उपलक्षणमात्र हो जाने से) भक्तिवादी का क्या मतलब सिद्ध हो गया? और हमारा क्या बिगड़ गया? इसी को कहते हैं—वह ध्वनि के इत्यादि। फिर शङ्का करते हैं कि भक्ति को प्राचीनों ने कहा है, उसके उपलक्षणरूप से समग्र भेदसहित ध्वनि को भी लक्षित करेंगे और ज्ञान करेंगे। अतः उस (ध्वनि) के लक्षण से क्या? यह आशङ्का करके कहते हैं—और यदि—। अलङ्कारों का

इस प्रकार अपनी बात के कट जाने से चिढ़ कर मीमांसक यह कह उठता है कि रत्यादि चित्तवृत्ति के ज्ञान में हम शब्द-व्यापार को ही नहीं मानते, बल्कि जिस प्रकार धूम के ज्ञान से अग्नि का स्मरण करते हैं उसी प्रकार विभावादि की प्रतीति के पश्चात् रसादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है।

इस पर लोचनकार का कहना है कि तब तो परचित्तवृत्तिज्ञान ही रस का ज्ञान आप स्वीकार करते हैं। किन्तु यह तो दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान मात्र है इसमें रसत्व कैसा? बल्कि काव्यगत विभावादि की चर्वणा के का ण जो अलौकिक चमत्काररूप रसास्वाद है उसे स्मरण और अनुमान आदि की कोटि में लाकर हीन बनाना ठीक नहीं। रस की अनुभूति के लिए अनुमान और स्मरण आदि की कोई कैद नहीं है। केवल दर्शक दृश्यमान के साथ हृदयसंवाद का अनुभव करता हुआ चर्वणा के बल से बिलकुल तन्मय हो जाता है और तब उसे पता नहीं रहता कि वह किसी भिन्न या तटस्थ व्यक्ति के सुख से सुखी या दुःख से दुःखी हो रहा है। यही रसभूमि की अलौकिकता है। यहाँ दुःख का भी आनन्द के रूप में ही अनुभव होता है। इस प्रकार आलङ्कारिक आचार्यों ने 'चर्वणा' को रस की अनुभूति के लिए अनिवार्य माना है, बल्कि यहाँ तक वे लोग कहते हैं कि चर्वणा और रसानुभूति में कोई अन्तर नहीं होता। अब यदि कोई कहे कि 'चर्वणा' किसी प्रभाव से उत्पन्न होती है तब यही उत्तर है कि वह अलौकिक है अतः वहाँ लौकिक प्रत्यक्ष

ध्वन्यालोकः

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः; यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्न-

अगर दूसरे लोगों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो हमारे पक्ष की सिद्धि ही होती है ॥ १९ ॥

पहले ही दूसरों द्वारा ध्वनि के लक्षण कर दिए जाने पर हमारे पक्ष की सिद्धि ही है, क्योंकि 'ध्वनि है' यह हमारा पक्ष है, और वह पहले से ही सिद्ध हो चुका, इस

लोचनम्

धावृत्ते वैयाकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः। तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तॄणां ज्ञातॄणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात्। तदाह—*लक्षणकरण-वैयर्थ्यप्रसङ्ग इति*। मा भूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ्नि-रूपितं, तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह—*किं चेत्यादि*। *प्रागेवेति*। अस्मत्प्रय-

अभिधानाभिधेयभाव व्यापक है, ऐसी स्थिति में वैयाकरण और मीमांसक आचार्यों द्वारा अभिधा व्यापार के निरूपण कर दिये जाने पर आलंकारिक आचार्यों का व्यापार क्या महत्त्व रखता है। उसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है ऐसा तार्किकों के कह देने पर ईश्वर प्रभृति कर्ताओं और ज्ञाताओं का कार्य क्यों अपूर्व होगा? इस प्रकार निरारम्भ होने लगेगा। उसे कहते हैं—लक्षण करना व्यर्थ होगा—। तब शङ्का करते हैं कि अपूर्व वस्तु का उन्मीलन न हो, जो पहले से उन्मीलित है उसे ही हमने सम्यक् प्रकार से निरूपण किया, तब भी क्या दोष है? इस अभिप्राय से कहते हैं—और भी—। इत्यादि। पहले ही—। अर्थात् हमारे प्रयत्न से। इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद को, और ध्वनि के भक्ति में अन्तर्भूतत्व का निराकरण

आदि प्रमाणों का कोई उपयोग नहीं रह जाता। लोक में जो कारण और कार्य होते हैं वेही अलौकिक काव्य में विभाव और अनुभाव हो जाते हैं। चर्वणा स्थायी भाव को रस्यमान बनाती है, इसका यह अभिप्राय नहीं चर्वणा प्रमाण के व्यापार की भांति ज्ञापन अथवा हेतु के व्यापार की भांति उत्पादन रूप है, बल्कि वह अभिव्यञ्जन है। चर्वणा के माध्यम से विभावादि रस का हेतु अवश्य है कि अलौकिक है अतः उसे न तो ज्ञापक हेतु कह सकते और न तो कारक। रस जब कि स्वसंवेदनसिद्ध है तो उसकी सिद्धि के लिए किसी अतिरिक्त प्रमाणरहित कहने से कुछ भी बिगड़ता नहीं।

अस्तु, जब कि आप लक्षणा से रस के बोध की बात करते हैं तो यह कहना है कि जहाँ अर्थाभिधान का अनुपयोगी अनुप्रास भी रस का व्यञ्जक है वहाँ तो अभिधा का भी प्रसंग नहीं फिर लक्षणा की शङ्का भी क्या हो सकती है?

ध्वन्यालोकः

समीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः। येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्ये-

प्रकार विना यत्न के हमारा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया। जिन लोगों ने सहृदय जनों के हृदय द्वारा संवेद्य एवं अनिर्वचनीय ध्वनि के स्वरूप को आम्नात किया है वे भी परीक्षा करके कहने वाले नहीं हैं। क्योंकि कथित और वक्ष्यमाण नीति के अनुसार ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षण के प्रतिपादित होने पर भी यदि उसका अनि-

लोचनम्

त्वादिति शेषः। एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—*येऽपीत्यादिना*। उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम्। वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना। तत्र प्रथमोद्द्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्द्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु

करते हुए उसके अलक्षणीयत्व का भी इसमें निराकरण किया ही। अत एव मूलकारिका साक्षात् रूप से अलक्षणीयत्व के निराकरण के सम्बन्ध की नहीं श्रुत है, परन्तु वृत्तिकार स्वतः निराकृत उस पक्ष को प्रमेय के सन्निवेश विशेष की पूर्ति के लिए कण्ठतः अनुवाद करके निराकरण करते हैं—जिन लोगों ने—। इत्यादि द्वारा। उक्त नीति के अनुसार 'यत्रार्थः शब्दो वा०' यह सामान्य लक्षण प्रतिपादित है, वक्ष्यमाण नीति के अनुसार विशेष लक्षण होगा—'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्०' इत्यादि द्वारा। प्रथम 'उद्योत' में कारिकाकार ने ध्वनि का सामान्य लक्षण ही किया है। दूसरे 'उद्योत' में कारिकाकार ने अवान्तर विभाग और विशेष लक्षण को करते हुए अनुवाद द्वारा मूल का द्विविध विभाग सूचित किया है। उनके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में

अन्त में, आचार्य ने किसी की यह शङ्का उद्भावित की है कि काव्य को वाच्य और व्यङ्ग्य दो अर्थों का बोधक मानते हैं, इस प्रकार हम 'वाक्यभेद' करेंगे। इसके उत्तर में आचार्य अभिनव गुप्त का कहना है कि वाक्यार्थ कभी दो नहीं हो सकता, क्योंकि एक काल में दो वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकरण आदि की सहायता दूसरे वाक्य में भी लेनी ही पड़ेगी, क्योंकि ऐसा न करने से काम नहीं चलेगा। और भी यदि आप प्रकरण आदि को नियामक स्वीकार नहीं करेंगे तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस श्रुति वाक्य का अर्थ 'कुत्ते के मांस को खाना चाहिए' यह

ध्वन्यालोकः

यत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव॥

वंचनीयत्व है तब तो वह (अनिर्मंचनीयत्व) समग्र वस्तुओं के सम्बन्ध में प्राप्त है। पुनः यदि वे लोग इस अतिशयोक्ति द्वारा ध्वनि का कोई दूसरे काव्यों से बढ़ कर स्वरूप कहते हैं तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके प्रथम उद्द्योतः॥

लोचनम्

वृत्तिकृदत्रैवोद्द्योते मूलविभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति। *सर्वेषामिति*। लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः। *अतिशयोक्त्येति*। यथा 'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इतिवदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता साररूपतां प्रतिपादयितुमिति दर्शितमिति शिवम्॥ १९॥

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥

मूल का विभाग कहा है—'स च द्विविधः' ('और वह दो प्रकार का है')। समग्र वस्तुओं का—। अर्थात् लौकिक एवं शास्त्रीय वस्तुओं का। अतिशयोक्ति द्वारा—। जैसे—'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' ('वे अक्षर हृदय में कुछ स्फुरित हो रहे हैं) इसके समान अतिशयोक्ति द्वारा साररूपता के प्रतिपादनार्थ अनाख्येयता (अनिर्वचनीयत्व) कही गई है, यह दिखाया गया। (शिवम्)

क्या लोचन के विना लोक (संसार) चन्द्रिका से भी उद्भासित होता है? (व्यङ्ग्य यह कि क्या 'लोचन' व्याख्या के विना आलोक—ध्वन्यालोक—'चन्द्रिका' व्याख्या से स्फुरित होता है?) उस कारण अभिनवगुप्त ने यहाँ 'लोचन' का उन्मीलन किया है।

किया जाय तो आपके सामने क्या प्रमाण होगा? आपको विवश होकर प्रकरण को स्वीकार करके ही इसका अर्थ करना होगा। अतः 'वाक्यभेद' की बात दोषपूर्ण है। रसास्वाद की स्थिति में लौकिक स्थितियों की भाँति पूर्वापर-काल की चिन्ता नहीं होती, वह सर्वथा अलौकिक स्थिति है।

जैसा कि वृत्तिकारने सामान्यतः 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' में भक्ति के अभाव का निर्देश किया है उस पर लोचनकार कहते हैं कि माना कि विवक्षितान्यपरवाच्य के संलक्ष्यक्रम रूप भेद में लक्षणा को हम किसी प्रकार स्वीकार कर भी लें, किन्तु रसादि रूप अलक्ष्यक्रम में क्या उपाय निकालेंगे और यदि अपना हठ छोड़ कर वादी आचार्य की बात सुने तो वह भी कहते हैं कि

लोचनम्

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केते प्रथम उद्द्योतः ॥

जिसकी उन्मीलन-शक्ति से ही क्षण में विश्व उन्मीलित हो जाता है उस अपने आयतन में स्थित शिवा प्रतिभा की वन्दना करता हूँ।[1]

महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदयालोकलोचन रूप ध्वनिसङ्केत में प्रथम उद्द्योत समाप्त हुआ।

विवक्षितान्यपरवाच्य ही क्या, अविवक्षितवाच्य ध्वनि, जो लक्षणामूल है, में भी मुख्यार्थ-बाध आदि लक्षणा की सामग्री की अपेक्षा न करके ही व्यङ्ग्य अर्थ में विश्रान्ति होती है।

यह बात सिद्ध हुई कि 'भक्ति' किसी प्रकार ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने शैव-दर्शन की कल्पनाओं के अनुसार यहाँ प्रतिभा रूप शिवाख्या परा शक्ति की वन्दना की है। शैव कल्पना के अनुसार परमशैव कूटस्थ तत्त्व हैं, किन्तु उन्हें आयतन बना कर विश्रान्त रहने वाली परा शक्ति ही अपनी उन्मीलन-शक्ति से विश्व का उन्मीलन क्षण भर में कर देती हैं। प्रस्तुत काव्य-पक्ष में इसका अर्थ यह व्यञ्जित होता है कि कवि की प्रतिभा या नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा है, उसे प्रणाम है; जो कि वह नित्य अपने आयतन कवि में विराजती है और अपनी शक्ति द्वारा एक अलग ही संसार का उन्मीलन करती रहती है।

यह आकलनीय है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' टीका के प्रत्येक 'उद्योत' के अन्त में क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी को नमन किया है।